
नानेशवाणी-50

आध्यात्म का कुआँ

आचार्य श्री नानेश

प्रकाशक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

नानेशवाणी-50

आध्यात्म का कुआँ

आचार्य श्री नानेश

प्रथम संस्करण : मार्च, 2019

मूल्य : 100/-

ISBN 978-93-86952-37-0

प्रकाशक :

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अन्तर्गत—श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग

श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड

गंगाशहर, बीकानेर-334401 (राज.)

दूरभाष : 0151-2270261, 3292177, 0151-2270359

visit us : www.sadhumargi.com

e-mail : publications@sadhumargi.co

मुद्रक :

सांखला प्रिंटर्स

विनायक शिखर, शिव बाड़ी रोड

बीकानेर-334003 (राज.)

प्रकाशकीय

समय अपनी गति से चला जा रहा है। अनवरत, दिन-रात, चौबीसों घंटे, प्रति पल। बिना कोई समय गंवाये। समय मात्र का प्रमाद किये बिना। वह अपने को पहचानता है। वह जानता है कि बीता हुआ समय दुबारा नहीं आ सकता। उसे मालूम है समय का मूल्य, इसलिए वह किसी के रोके नहीं रुकता।

समय ने अपने को पहचान लिया। क्या आप ने अपने को पहचाना? मुश्किल होता है अपने आप को पहचान पाना। सभी के वश की बात नहीं होती। विरले ही होते हैं अपने आप को पहचान पाने वाले। ऐसे ही विरले लोगों में हैं आचार्य श्री नानालाल जी मसा। आचार्य नानालाल जी ने अपने को ही नहीं पहचाना, समय को भी पहचान लिया। समय को पहचान कर ही उन्होंने लोगों के जीवन में आने वाली समस्याओं के समाधान की राह बताई थी।

आचार्य श्री ने वह राह बताई, जो ऊबड़-खाबड़ नहीं है। वह राह बताई, जो कंकरीला-पथरीला नहीं है। वह राह है—समता की राह। समता की राह पर चलकर कोई भी आत्मोन्नति के शिखर पर पहुंच सकता है। यह सवाल पूछना बेमानी लगता है कि क्या आप भी आत्मोन्नति के शिखर पर पहुंचना चाहते हैं? निश्चित रूप से हर व्यक्ति इस शिखर को छूने के लिए लालायित रहता है।

आचार्य श्री जीवन पर्यंत प्रयासरत रहे कि लोग समता के मार्ग पर आगे बढ़कर आत्मोन्नति को प्राप्त करें। आचार्य श्री ने इसके लिए कई माध्यम अपनाया। उन्हीं माध्यमों में एक माध्यम है व्याख्यान। उनके बहुत सारे व्याख्यान 'नानेशवाणी' के अन्तर्गत पुस्तक के रूप में पाठकों के हाथों में आ चुके हैं। एक-एक कर अब तक 49 पुस्तकों का लाभ पाठकों को प्राप्त हुआ है। अब नानेशवाणी भाग-50 के रूप में 'आध्यात्म का कुआँ' आपके हाथ में है।

'आध्यात्म का कुआँ' जलगांव में सन् 1986 में संपन्न चातुर्मास के दौरान आचार्य श्री की अमृत वाणी से निकले व्याख्यानों में से कुछ का संकलन है। जब आप इस कुआँ में उतरेंगे तो आपको पता चलेगा कि 'दानों में श्रेष्ठ अभयदान' कैसे है। आजकल लोग अपने भाग्य को लेकर बहुत चिंतित

रहते हैं। एक बार आप इस कुएं में उतर गये तो फिर आपको अपने भाग्य की जानकारी करने के लिए कहीं इधर-उधर दौड़ने की आवश्यकता नहीं होगी। इस कुआँ में जाकर आप यह जान जायेंगे कि 'आपका भाग्य आपके हाथ' है। यदि आपने अपने स्वभाव को नहीं जाना है तो इस कुएं में उतरकर 'समझें अपने स्वभाव को' और अपना 'रूपान्तरण करें'। 'आध्यात्म का कुआँ' वह कुआँ है, जो सामान्य कुओं की भांति आपको किसी दायरे में बांध कर नहीं रखता बल्कि यह आपके 'स्वतंत्रता की दिशा' तय करता है। इस दिशा में अपना कदम बढ़ाकर आप भी आत्मोन्नति के शिखर को छू सकते/सकती हैं।

पुस्तक के प्रकाशन में गलतियों से बचने का पूरा प्रयास किया गया है, फिर भी किसी प्रकार की त्रुटि हो गई हो तो हम क्षमा के साथ चाहेंगे कि हमारी गलतियों को हमसे बतायें जिससे भविष्य में हम उन गलतियों से बच सकें। हम उनके आभारी होंगे जो किसी भी प्रकार की त्रुटि से हमें अवगत करायेंगे।

संयोजक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अंतर्गत श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

संघ के प्रति अहो भाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'आध्यात्म का कुआँ' के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

अर्थ सहयोगी

स्व. श्री तुलसीराम जी—स्व. श्रीमती माना देवी पींचा

की पुण्य स्मृति में

सुंदर लाल पींचा—बसंती देवी पींचा

(राष्ट्रीय कार्यकारिणी सदस्य)

महेंद्र कुमार पींचा—खुशबू पींचा

(महामंत्री—समता युवा संघ, गुवाहाटी)

नोखा—गुवाहाटी

॥ सेवा है यज्ञकुण्ड, समिधा सम हम जलें॥

अनुक्रमणिका

1. आध्यात्म का कुआँ	7
2. आसक्ति-अनासक्ति	17
3. दुर्लभ श्रद्धा	26
4. दानों में श्रेष्ठ अभयदान	35
5. सूक्ष्म जीव-रक्षा	45
6. चारित्र धर्म का शुभारंभ	55
7. साकार : निराकार	65
8. स्वतंत्रता की दिशा	74
9. आपका भाग्य आपके हाथ	85
10. रूपान्तरण करें!	93
11. समझें स्वभाव को	103
12. ग्रंथियाँ-अमृत-विष	112
13. सारभूत है लोक में सत्य	122
14. सत्संग है सत्य का पोषक	132
15. याचना नहीं, प्रार्थना	141
16. अन्याय को सहना अन्याय है	150
17. भक्ति भगवान को नहीं, भक्त को चाहिये	159
18. परम गहन सेवा	169
19. मन की एकाग्रता	178

1

आध्यात्म का कुआँ

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी आतम रामी नामी रे...

परमात्मा परम ज्ञानी प्रभु महावीर ने भव्य प्राणियों के आत्मविकास-पथ को प्रशस्त बनाने के लिए सम्यग्ज्ञान के दिव्य आलोक का प्रसार किया है। यह आलोक उनके उपदेशों तथा उनकी देशनाओं के रूप में है।

उनका सार यह है कि भव्य प्राणी इस बाह्य संसार के रूपक को समझें, उसके संदर्भ में अपनी आन्तरिकता की पहचान करें तथा बाह्य एवं आन्तरिक स्वरूपों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए महावीर प्रभु के निर्देशानुसार रत्न-त्रय की आराधना करें।

रत्न त्रय का अलौकिक मार्ग

सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्राणि मोक्षमार्गः

सम्यग्ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। इन्हें इसी कारण रत्न त्रय की संज्ञा दी गई है कि इन तीनों की सम्यक् साधना के माध्यम से सांसारिकता में भटकती हुई भव्य आत्मा अपनी भव्यता का आकलन करे तथा अपनी सम्पूर्ण मुक्ति के साध्य को प्राप्त कर ले।

इन तीनों रत्नों में भी यहाँ सम्यग्ज्ञान को पहले क्रम पर लिया गया है। ज्ञान यानी जानना, दर्शन यानी मानना, श्रद्धा करना तथा चारित्र यानी आचरण करना। ये तीनों प्रवृत्तियाँ सम्यक् रीति से सम्पादित की जानी चाहिये। मिथ्या को छोड़ने से सम्यक्त्व आता है और सम्यक्त्व की मौजूदगी में ज्ञान का प्रवेश आलोकमय होता है।

ज्ञान को मुक्ति का आधार माना गया है। ज्ञान सम्यक् है, शुद्ध है, सही है तो उसके प्रति बनाई गई आस्था भी सम्यक् और शुद्ध होगी तथा वह जीवन को सुदृढ़तापूर्वक विकासोन्मुखी बनायेगी। विकास की ओर अग्रसर जीवन जब आचरण के क्षेत्र में गतिशील बनेगा तो वह गति भी सम्यक्, शुद्ध और सही ही

होगी। जानना, मानना और करना जब एकरूप हो जाता है तब आत्ममुक्ति का मार्ग भी निष्कण्टक बन जाता है। इसी रूप में भव्य आत्मा की भव्यता का समुचित विकास तथा उसकी पूर्णता संभव होती है।

जानने, मानने और करने की शुद्धता तथा एकरूपता को मन, वचन तथा कर्म का सामंजस्य कह सकते हैं। आप जो अच्छा जानते हैं तो अवश्य वैसा ही अच्छा सोचेंगे और वही अच्छाई आपकी श्रद्धा व वाणी में बनी रहेगी। फिर आचरण तो उस अच्छाई से भरपूर होगा ही। मन, वचन, कर्म से सधा हुआ ऐसा जीवन ही संसार के बाह्य स्वरूप को भी भलीभांति समझता है तो आत्मा के आन्तरिक स्वरूप को भी बाहर से भीतर तथा भीतर से बाहर विवेकपूर्वक गमनागमन करती हुई आत्मा ही स्व-पर कल्याण का अलौकिक पुरुषार्थ दिखा सकती है।

सम्यग्ज्ञान की कसौटी

ज्ञान जीव मात्र में पाया जाता है, किन्तु जो ज्ञान नय और प्रमाण से होने वाले जीव अजीव आदि नव तत्त्वों के यथार्थ को जान जाता है उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। जो ज्ञान शब्दों में उतारा जा सके तथा जिसमें वस्तु को उद्देश्य एवं विधेय रूप में कहा जा सके उसे नय कहते हैं। उद्देश्य और विधेय के विभाग के बिना ही जिसमें अविभक्त रूप से वस्तु का भाव हो उसे प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार जो ज्ञान वस्तु के अनेक अंशों को जाने वह प्रमाण ज्ञान है तथा अपनी विवक्षा से किसी एक अंश को मुख्य मानकर व्यवहार करे वह नय ज्ञान है। यों ज्ञान के पांच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान एवं केवलज्ञान। ये पांचों ज्ञान दो विभागों में विभक्त हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं तथा शेष तीन प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की स्वाभाविक योग्यता से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय व मन की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है।

मूल तथ्य यह है कि ज्ञान प्रत्येक जीवात्मा में रहता है तथा ऐसा एक भी समय नहीं आता जब वह ज्ञान रहित हो जाय क्योंकि ज्ञानरहित जड़ तत्त्व होता है तथा एक चेतन कभी भी जड़ नहीं बनता। अतः ज्ञान का अन्तर यही है कि या तो वह मिथ्या होता है या फिर सम्यक्। यों किसी को जो अज्ञानी कह देते हैं, उसका आशय यही होता है कि वह मिथ्या ज्ञानी है। इसी मिथ्या ज्ञान को सम्यग्ज्ञान में रूपान्तरित करने के पुरुषार्थ को ही आत्म-विकास का मार्ग कहा गया है। ज्ञान का सम्यक् होना ही समग्र आत्मविकास का मूल है।

मोक्ष का अर्थ है आत्मा की समग्र शक्तियों का सम्पूर्ण विकास, जिसका अभिप्राय यह है कि आत्म शक्तियों के विकास में बाधा डालने वाले तत्त्वों को विनष्ट कर देना। इसी साध्य को प्राप्त करने का आधारगत साधन है सम्यग्ज्ञान कि नौ तत्त्वों का अध्ययन करके संसार के बाह्य रूप को जानें, पाप एवं पुण्य प्रकृतियों को पहचानें, आस्रव, संवर एवं निर्जरा के रहस्यों की शोध करें तथा बंध-मोक्ष की सुलझन तक पहुँचें। यही सम्यग्ज्ञान की वास्तविक कसौटी है कि बाहर को जानें, बाहर से भीतर में उतरें एवं भीतर की सुगंध को बाहर फैलावें। ऐसा जीवनाचरण निर्मित हो जाय। मिथ्यात्व का अंधेरा हटता जाय और सम्यक्त्व का आलोक फैलता जाय।

बाह्य क्या और आन्तरिक क्या ?

जीव, अजीव, पाप, पुण्य, बंध, आस्रव, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष रूप नव तत्त्वों का जब मनन-चिन्तनपूर्वक बोध हो जायेगा तो इस संसार और जीवन का रहस्य भी सुप्रकट हो जायेगा। यह भी भलीभाँति विदित हो जायेगा कि बाह्य क्या है और आन्तरिक क्या है ?

अजीव के साथ जीव के बंधने के कारण ही इस संसार की रचना है जिसके विविध दृश्य कर्मों के फलाफल के रूप में दृश्यमान होते हैं। इस संसार में जितना जो बाहर दिखाई देता है, वह सब जीवात्मा के भीतर से जुड़ा हुआ रहता है। प्रत्येक जीव जैसा पाप या पुण्य रूप कर्म बांधता है, उदय में आने पर वह बांधा हुआ कर्म उसी के अनुरूप फल देता है और तदनुसार ही बाहर से मित्रता-शत्रुता, सहयोग-विरोध, राग-द्वेष आदि की विविधता दिखाई देती है। यह बाहर का रूपक जब जीवात्मा के भीतर उतरता है तो वह पाप से पुण्य की ओर, आस्रव से संवर एवं बंध से निर्जरा और मोक्ष की ओर मुड़ती है तथा वह मोड़ आन्तरिकता से आचरण में उतरने वाले संयम, त्याग और तप की आराधना से जीवात्मा को विकास व मुक्ति की दिशा में अग्रगामी बनाता है। विकास की पूर्णता को साधकर जीवात्मा की समुन्नत आन्तरिकता फिर सम्पूर्ण बाह्य को आलोक की ओर गतिमान करती है।

इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक स्वरूप भिन्न-भिन्न न होकर एक ही सिक्के के दो पहलुओं जैसे हैं। दोनों अन्योन्याश्रित भी हैं तो एक दूसरे से प्रेरित और अनुप्राणित भी। यह तथ्य भी साथ में समझ लेना चाहिए कि जीवात्मा के ज्ञान में जब तक मिथ्या का अंश अधिक रहेगा, तब तक उसको बाह्य और आन्तरिक दोनों स्वरूपों का भ्रम भरा ज्ञान ही रहेगा जो उसकी भीतरी शक्तियों

को विकसित नहीं होने देगा। इसी कारण ज्ञान को सम्यक् स्वरूप प्रदान करने की साधना पर बल दिया गया है ताकि संसार का बाहरी और आत्मा का भीतरी स्वरूप सम्यग्ज्ञान से आलोकित हो क्योंकि ऐसे आलोक में ही आत्मा का विकास-पथ दृष्टिगत होता है तथा दृष्टि और आस्था की सुघड़ता के कारण विकास-पथ पर उसकी गतिशीलता भी सुस्थिर और अडिग बनती है।

ज्ञान बाहर का, ज्ञान भीतर का

इसी कारण प्रभु महावीर ने अपनी प्रथम देशना के प्रथम उपदेश में ही भाव भरे ज्ञान का एक ज्योतिर्प्रवाह बहा दिया और फरमाया कि—

जे अज्झत्थं जाणई, ते बहिया जाणई।

जे बहिया जाणई, ते अज्झत्थं जाणई॥

अर्थात् जो भीतर को जान लेता है, वह बाहर को भी जान लेता है तथा जो बाहर को जान लेता है वह भीतर को भी जान लेता है। यह नहीं हो सकता कि जिसने भीतर को जान लिया हो वह बाहर को नहीं जानता हो अथवा वह बाहर का सबकुछ जानता हो लेकिन भीतर प्रवेश न पा सका हो। क्योंकि बाहर-भीतर का सम्यग्ज्ञान परस्पर जुड़े बिना नहीं रहता। वह एक दूसरे क्षेत्र को अपने आलोक से प्रभावित करता ही है।

समझिये कि कोई बाहर का सबकुछ जानता है कि किसके साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिये, सामाजिक क्षेत्र में कौन-सा कार्य करना चाहिये, राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना कर्तव्य कैसे निभाना चाहिये या किसी परिवार के दायरे में किसको कब क्या सुझाना चाहिये। उसका सभी सत्कार-सम्मान करते हैं और वह सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय भी है। वह सबके द्वारा चतुर, सद्व्यवहारी और सहयोगी भी माना जाता है लेकिन परिपूर्ण ज्ञानियों की दृष्टि में यदि वह बाहर को जानता हुआ भीतर को नहीं जानता है तो यही कहा जायेगा कि वह सबकुछ दिखाई देते हुए भी बाहर को परिपूर्ण रूप से नहीं जानता है। कारण, एक पक्ष या बाजू की सारी जानकारी भी दूसरे पक्ष या बाजू की पूरी जानकारी के अभाव में अपूर्ण ही मानी जायेगी।

दूसरे, भीतर को विज्ञान पूर्वक जान कर यदि बाहर के क्रियाकलापों को करेंगे तो वैसी अवस्था में बाहर के वे क्रियाकलाप भी विज्ञानपूर्वक बन जायेंगे। तब यह कहा जा सकेगा कि जिसने भीतर को जान लिया है वह अब बाहर को जान लेता है। भीतर को जानना कैसे होता है इसे भी समझ लेना चाहिये। कल्पना करें कि एक व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन की विशेषताओं को जानने

का दावा करता है और उन्हें दूसरों को समझाने का प्रयास भी करता है किन्तु उसकी दृष्टि केवल दिमागी है, उसका ज्ञान मात्र पुस्तकीय है। इस प्रकार यदि उसकी दृष्टि और उसका ज्ञान विकसित बनकर आचरण में नहीं ढल पाया है तो वह भीतर का ज्ञान भी सार्थक नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि वैसा मात्र पुस्तकीय ज्ञान उसे निजत्व की पहचान नहीं कराता तथा भीतर में होने वाले परिवर्तनों से उसे परिचित नहीं बनाता। अगर ऐसा होता है तो कैसे कह सकते हैं कि उसने भीतर को जाना है या कि भीतर को जाना है तो बाहर को जाना है। यही कहा जायेगा कि उतनी जानकारी होने के बावजूद वह न तो भीतर को जान सका है और न ही बाहर को।

भीतर-बाहर का सन्तुलन

कोई कहे कि मैं कोशिश तो करता हूँ लेकिन भीतर प्रवेश नहीं कर पाता हूँ तो ऐसा कहना सम्यग्ज्ञान की दिशा में अग्रसर बनने की इच्छा रखने वाली किसी भी भव्य आत्मा के लिये योग्य नहीं है। जब वैसी आत्मा बाहर को जान सकती है तो भीतर में गोता क्यों नहीं लगा सकती है? अपनी आन्तरिकता में प्रवेश करना तथा उसमें रमण करना कठिन अवश्य होता है, लेकिन अगर कोई पूरी लगन और हिम्मत के साथ उसे साधने में जुट जाय तो क्या उस कठिनाई को भला दूर नहीं कर सकते हैं? ऐसी अशक्यता का अनुभव सम्यग्ज्ञान के अभाव में ही होता है।

एक सम्यग्ज्ञानी इस सत्य से परिचित होता है कि भीतर और बाहर के ज्ञान का सन्तुलन व्यवस्थित रूप से प्राप्त किया जाना चाहिये अन्यथा एकांगी जानकारी पूरे स्वरूप को समझ नहीं पाती है। सत्य का एक रूप यह भी है कि किसी की बाहर की जानकारी तभी सम्यक्, शुद्ध और सफल बनेगी जब वह भीतर की जानकारी से विवेकपूर्वक जुड़ेगी। दोनों के बीच में आधारगत सम्बन्ध के बिना कोई एक पक्ष सार्थक नहीं बनता है। यह दूसरी बात है कि बाहर की सम्यक् जानकारी करने वाले ने स्पष्ट रूप से भीतर की जानकारी यानी कि भीतर की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं ली हो लेकिन अप्रत्यक्ष अनुभूति तो उसके मन में रहेगी तभी बाहर की जानकारी संवेदनापूर्ण हो सकेगी। इसी सन्तुलन को पूरी समझ के साथ विकसित कर लेने पर भीतर को जानने वाला अवश्य ही बाहर को जान लेता है और तब यह स्थिति भी हकीकत बन जाती है कि जो बाहर को जानता है वह भीतर को भी जान लेता है।

मनुष्य जीवन की साधना में आत्म शक्तियों के विकास हेतु ऐसा स्वस्थ सन्तुलन आवश्यक है। भीतर-बाहर के ज्ञान के सन्तुलन से ही मन, वचन और

कर्म की गति सुचारु बनती है। इस सन्तुलन को प्राप्त करने में साहसिक संकल्प की जरूरत पड़ती है, क्योंकि इस लक्ष्य के प्रति निरन्तर प्रयासरत रहना पड़ता है और असफल होते रहने के बाद भी हताशा को पास नहीं फटकने देना होता है। भीतर प्रवेश करने के प्रयत्न के समय एक बार बाहर को भूल जाना होता है और अपनी सारी शक्ति को समेट कर आन्तरिकता में गहरे डूबना होता है। तब सम्यग्ज्ञान के आलोक और आत्मविश्वास की आस्था के साथ उसे एक दिन अवश्य सफलता प्राप्त होती है।

ज्ञान, आस्था और आचरण

सम्यग्ज्ञान एक अलौकिक सम्पदा है जो आस्था से संयुक्त होकर आचरण में उतरता है तो किसी भी कठिन कार्य में हताशा को ही दूर नहीं करता बल्कि नई आशा और आकांक्षा को जगाकर सफलता के आत्मविश्वास को सुदृढ़ बना देता है। सोचें कि एक किसान के पास सैकड़ों एकड़ कृषि भूमि है। उस पर वह खेती करता-कराता है तो उसे उन सारी आवश्यकताओं की पूरी जानकारी होती है कि किस किस की भूमि पर किस प्रकार की सिंचाई की जरूरत होगी, कहाँ-कहाँ कुएं खुदवाने होंगे जिनसे सिंचाई योग्य पर्याप्त जल उपलब्ध हो सकेगा अथवा किस समय किस प्रकार के बीजों से क्या-क्या फसल उगाई जाय? यदि उस किसान को कृषि सम्बन्धी ऐसी प्राथमिक जानकारियाँ ही न हों तो क्या उसकी खेती फलवती हो सकती है? यह मानें कि उसको कहाँ कुएं खुदवाये जाएं उसका ज्ञान नहीं है और उस समय उसके पास कोई भूगर्भविज्ञान आ जाय तो वह उस भूगर्भविज्ञान से आवश्यक जानकारी लेगा या नहीं? बल्कि उस जानकारी के अनुसार उस भूगर्भविज्ञान में विश्वास रखकर कुओं के लिये खुदाई शुरू करायेगा या नहीं? इस प्रकार ज्ञान पुरुष से ज्ञान लिया जाता है तथा उस ज्ञान में अपनी आस्था भी जोड़ी जाती है। ज्ञान और आस्था के साथ ही आचरण का चरण उठता है।

कल्पना कीजिये कि वह किसान उस भूगर्भविज्ञान के सुझाव के अनुसार अमुक स्थान पर कुआँ खुदवाना शुरू करता है और दस-बीस हाथ खोद लेने पर भीतर बड़ी-बड़ी चट्टानें आ जाती हैं तो क्या वह किसान खुदाई बंद कर देगा? वह ऐसा नहीं करता बल्कि चट्टानों को तोड़ते हुए खुदाई को जारी रखता है। वह ध्यान रखता है कि भूगर्भविज्ञान ने साठ हाथ तक खोद लेने पर पानी मिलने की बात कही है और उसके कथन में विश्वास रखकर वह अपना प्रयास चालू रखता है, हतोत्साहित नहीं होता। लेकिन समझिये कि साठ हाथ खोद लेने पर भी जब पानी की एक बूंद भी न निकले, तब उसके मन की क्या दशा होती है? विवेकशील किसान तब

भी हार नहीं मानता है और सोचता है कि दस हाथ और खोद लें, हो सकता है कि तब पानी का झरना निकल आवे। वह फिर अपने प्रयत्न में लग जाता है पर दस हाथ और खोद लेने पर भी पानी नहीं आता है तब वह अवश्य विचार में पड़ जाता है कि इतनी गहराई तक खुदाई कर ली फिर भी पानी नहीं निकला! क्या मैंने भूगर्भविज्ञा की बात समझने में कोई गलती कर दी या कि उसकी गणित में कोई भूल रह गई? वह भूगर्भविज्ञा के पास जाता है तो ज्ञाता कहता है कि गणित में कोई भूल नहीं रही है, क्या कारण है कि पानी नहीं निकला। चलो, चलकर देखते हैं। भूगर्भविज्ञा ने यंत्र लगाकर देखा और कहा कि तुमने श्रम तो पूरा किया किन्तु उतना विश्वास तुम्हारे मन में जमा नहीं। खैर, अब पूर्व की ओर की चट्टान को तोड़ डालो, पानी का झरना निकल आयेगा। किसान ने वह चट्टान तोड़ी और पानी का झरना निकला तथा कुआँ लबालब पानी से भर गया।

इस दृष्टान्त का आशय क्या है? किसान ने पूरा श्रम किया, बड़ा धीरज रखा, फिर भी लगातार विफलता से कभी-कभी विश्वास डगमगाया तो लक्ष्य प्राप्ति में तनिक विलम्ब हुआ। मैं पूछता हूँ कि क्या इतना पुरुषार्थ इतना धैर्य और साहस तथा इतनी श्रद्धा और उमंग आप लोगों में धर्म के प्रति है? वीतराग देवों ने सत्य ही कहा है— तमेव सच्चं निसकं जं जिणेहिं पवेइयं।

ज्ञान मिलता है लेकिन उसके साथ श्रद्धा भी भरपूर होनी चाहिए। इतनी कि श्रम करते-करते धीरज न छूट जाय और मन हताशा से न घिर जाय। सम्यग्ज्ञान के साधक को यही विचार करना चाहिये कि मेरे पुरुषार्थ में कमी हो सकती है, धैर्य में कमजोरी रह सकती है लेकिन वीतराग देव के वचनों में, उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान में कहीं कोई कमी नहीं होती है। ऐसे दृढ़ विश्वास के साथ जब कोई भव्य आत्मा सम्यग्ज्ञान के आधार पर आचरण, आराधना और साधना के कदम आत्म-विकास के पथ पर आगे बढ़ाती है तब भीतर की आन्तरिकता को सजल बनते देर नहीं लगती है।

आप भी खोदिये आध्यात्म का कुआँ

आप धर्म के क्षेत्र में कार्य करने की आकांक्षा रखते हैं, नवकार मंत्र का जाप भी करते हैं तो आध्यात्म का गहरा कुआँ अपने भीतर खोदने का प्रयत्न भी करिये न? इस पुरुषार्थ का प्रारंभ कीजिये सामायिक की साधना से। सामायिक का व्रत लेकर जब आप बैठते हैं और चित्त को एकाग्र बनाकर जब समता को साधने की अभिलाषा करते हैं तो काफी अभ्यास के बावजूद कई बार सफलता नहीं मिलती है। क्या उससे निराश हो जाना चाहिये? सच

पूछें तो असफलता के अनुभव के बाद साधना के प्रति उत्साह और अडिग कर्म द्विगुणित हो जाना चाहिये। तब सामायिक और अन्य धार्मिक क्रियाओं में सक्रिय निष्ठा बढ़ जानी चाहिए। यह संकल्प दृढ़ बनना चाहिये कि धर्म से ही सभी मनोरथों की पूर्ति होती है, अतः धर्म साधना में कहीं भी शिथिलता या निष्क्रियता नहीं लायी जाये।

लेकिन कई भाई-बहिनों के विचार में एक कमजोरी भी देखने में आती है कि वे धर्म क्रियाएँ करते हुए उनके फल के रूप में अपनी गृहस्थी की आवश्यकताओं की पूर्ति की कामना करते हैं। कोई बहिन सोचती है कि मेरा धर्म कर्म फले तो मुझे पोते की प्राप्ति जल्दी हो या कि धन-सम्पत्ति मिले। ऐसी कामना कच्चे दिमाग वाले भाई-बहिन करते हैं जो धर्म का वास्तविक स्वरूप नहीं समझते। ऐसे नासमझ लोग धर्म क्रियाएँ तो कर लेते हैं किन्तु उनके फल से वंचित रह जाते हैं। उनका काम ऐसा ही होता है जैसे कि किसी नासमझ को कीमती हीरा मिल जाय और वह कांच का टुकड़ा मानकर कौड़ी के मोल उसे बेच देता है। अतः धर्म साधना के साथ सांसारिकता को मत जोड़िये। धर्म इसलिए नहीं किया जाता कि उससे धन, पद, सन्तान या अन्य कोई सांसारिक प्राप्ति हो बल्कि इसलिए कि आत्मा की सोई हुई शक्तियाँ जागृत बनें तथा आत्मा अपनी मुक्ति तक के चरम साध्य को प्राप्त करे।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि अपनी आत्मा की आन्तरिकता में आध्यात्म का कुआँ खोदने का पुरुषार्थ अवश्य शुरू कर दीजिये। ऐसा कुआँ जब सफलतापूर्वक खोद लिया जायेगा तो भीतर का पटल सद्गुणों के अमृत जल से लबालब भर जायेगा।

राजा श्रेणिक की कथा आप जानते हैं। वह पूणिया श्रावक की सामायिक खरीदने के लिये गया था। कीमत भी उसने लगा दी—बावन पहाड़ों जितना स्वर्ण। तब प्रभु महावीर ने क्या कहा था? उन्होंने कहा—अरे राजा, इतना स्वर्ण तो उसकी दलाली में भी कम पड़ेगा—मोल तो अलग बात है। यहाँ कोई दलाल है या नहीं? दलाली का धंधा तो कर लेते हैं, पर धर्म की दलाली भी करके तो देखिये। धर्म की दलाली भी आपको त्याग का सन्देश दे सकती है, फिर धर्म की करणी से तो जीवन में कैसा उन्नतिकारी परिवर्तन आयेगा—यह साधना का ही विषय है।

सम्यग्ज्ञान से साधना का मूल्यांकन

धर्म साधना का मूल्यांकन करते समय विवेकहीनता नहीं बरतें बल्कि सम्यग्ज्ञान के आलोक में उसके अमित महत्त्व को आँकें। यदि गहरी लगन

के साथ वीतराग देव की ज्ञानपूर्ण कला को समझें तो धर्म साधना का मूल्य निश्चित रूप से अमूल्य प्रतीत होगा। अगर धर्म क्रिया के महत्त्व का ही गलत अंकन कर लिया जाता है तो उस क्रिया को करने के बावजूद न तो वांछित आत्मिक विकास का दर्शन होगा और न ही साधना का सुफल मिलेगा। मेरे कोई भाई-बहिन अपनी सामायिक का मूल्य लगा लेते हैं कि मेरा बुखार ठीक हो जायेगा तो मैं दस सामायिक कर लूंगा। तो सोचिये कि दस सामायिक का क्या मूल्य आंका? केवल एक मेटासीन की गोली के बराबर। कितना गलत मूल्यांकन कहा जाएगा यह?

इस विवेकहीनता को दूर करने के लिये सम्यग्ज्ञान को जगाना होगा और प्रभु महावीर की वाणी को हृदयंगम करना होगा कि 'जे अज्झत्थं न जाणई, ते बतियं न जाणई।' केवल बाहर से कोई सुख मिलने वाला है नहीं, उसके लिये तो भीतर ही उतरना होगा तथा आन्तरिकता की गहरी परतों को पलटना होगा। भीतर-बाहर को जानने का यह क्रम निरन्तर एक पक्ष से दूसरे पक्ष की ओर चलता रहता है तथा दोनों पक्षों को निरन्तर सजग और सुदृढ़ बनाता रहता है।

आश्चर्य होता है कि कई भाई बाहर के पक्ष में तो काफी विवेक और सावधानी बरतते हैं लेकिन वही विवेक और सावधानी उनके भीतर के पक्ष में लुप्त-सी दिखाई देती है। ऐसे लोग एक मिट्टी का भांडा खरीदेंगे तब उसकी तो बार-बार परख करेंगे लेकिन अपने जीवन एवं धर्म के ऊँचे मूल्यों की पालना के कार्य में बेभान ही बने रहेंगे। वे नहीं सोच पाते कि उनकी आत्मा क्या खो रही है और क्या पा रही है। अतः उनकी ऐसी वृत्ति का रूपान्तरण होना चाहिए कि वे भीतर और बाहर को आपस में जोड़ें और भीतर की पवित्र हार्दिकता जगाकर बाहर के वातावरण में बदलाव लावें। इस बदलाव के बाद ही उनमें अपनी धर्म साधना का वास्तविक मूल्यांकन करने की क्षमता उत्पन्न हो सकेगी, क्योंकि आन्तरिकता और बाह्यता का सुन्दर सन्तुलन बना लेने से ही उनके भीतर में सम्यग्ज्ञान की सम्पन्नता हो सकेगी जो आस्था को प्रगाढ़ बनायेगी और कर्मठता को सक्रिय। बाहर से भीतर उतरो और भीतर से बाहर आओ तथा इस क्रम को निरन्तर चलने दो—वांछित शुभ परिवर्तन आकर रहेगा।

जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा

शौर्य की सब जगह जरूरत होती है—क्या कर्म और क्या धर्म में। कायर कहीं भी सफल नहीं होता, इसलिये शूरवीर बनिये। सामायिक करने बैठें और सारी व्यवस्था कर लें कि कोई किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचावे, फिर भी भीतर उतरने की प्रक्रिया सफल न बने तब निराश न हों और एक शूरवीर की तरह

अपने कठिन प्रयत्न में जुटे रहें। किन्तु उसके साथ ही भूगर्भविज्ञान की जानकारी में विश्वास रखने के समान वीतराग देव की वाणी में दृढ़ श्रद्धा बनाये रखें। यह सोचें कि जैसे निर्मल जल में मेढक कूद कर पानी को गंदला करते रहते हैं, उसी प्रकार यह मन भीतर प्रवेश करने के मार्ग को रोके रखता है तथा भांति-भांति के कुविचार बीच में बाधाएँ खड़ी करते रहते हैं, इस कारण साहस के साथ कुविचारों के बहाव को रोकना होगा और मन पर अंकुश लगाना होगा। इसी सम्यग्ज्ञान के साथ जब मनोनिग्रह का निरन्तर अभ्यास किया जायेगा तो सामायिक की साधना भी सफल होती जायेगी तथा भीतर प्रवेश करने का मार्ग खुल जायेगा।

अपना सम्पूर्ण शौर्य दिखाकर एक बार भीतर उतर गये तो फिर उसे जान भी जायेंगे और उसे जानकर बाहर को भी जान जायेंगे। ऐसी सम्यग्ज्ञान की सम्पदा उपार्जित कीजिये।

दिनांक : 8.8.1986

(जलगांव)

2

आशक्ति-अनाशक्ति

वासु पूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे...

प्रभु महावीर का आध्यात्मिक शासन वर्तमान में चल रहा है। इसके अनुशासन में जीवन ज्योति की उज्ज्वल आराधना तथा आत्मा को चरम विकास की साधना करने का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है। महावीर की देशनाओं में ऐसे-ऐसे प्रेरणादायी उद्बोधन मिलते हैं जो हृदय में वांछित परिवर्तन लाकर व्यक्ति की जीवन धारा को आत्मविश्वास की ओर मोड़ देते हैं।

विकास के आयाम कौन से?

मानव यह अवश्य चाहता है कि उस के मस्तिष्क का विकास हो किन्तु उस विकास की सीमा रेखा वहीं तक वह मानता है कि जहाँ तक उससे उसे भौतिक सुखों की प्राप्ति हो सके। यदि उसका इतना ही लक्ष्य रहता है तो वह वास्तविक विकास की दिशा भी जान नहीं सकता है क्योंकि वह इतना भी नहीं समझ पाता है कि विकास के आयाम कौन से हैं?

वस्तुतः चाहना और समझना यह चाहिये कि विकास वर्तमान जीवन का हो, आत्म स्वरूप का हो। जीवन के सच्चे मूल्यों का भावनात्मक एवं व्यावहारिक रूप से विकास हो। विकास का सही विवेक पैदा हो जाये और विकास का सही लक्ष्य स्पष्ट बन जाये तब विकास के लिये पुरुषार्थ प्रयोग का विचार भी निश्चित हो जायेगा। यदि विवेक के साथ विकास का कार्य प्रारंभ किया जाय और उसके साथ आध्यात्मिक प्रक्रिया भी जुड़ जाय तो जीवन की मौलिक एवं मूल्यात्मक उपलब्धियाँ अवश्य प्राप्त हो सकेंगी।

किन्तु यह खेद का विषय है कि आज मानव उन आध्यात्मिक प्रक्रियाओं की पृष्ठ भूमि को नहीं समझता। उनके स्वरूप का ज्ञान नहीं रखता और उन्हें साधने का संकल्प भी नहीं बनाता। प्रभु महावीर का कथन है कि जो संसार में

पांचों इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करता है एवं उनमें आसक्ति बनाये रखता है, वह इस चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है। इसके विपरीत जो अपनी प्रगाढ़ आसक्ति के बन्धनों को काट कर विषय भोगों से अलग हट जाता है और अनासक्ति धारण कर लेता है, वह एक-न-एक दिन अपने वास्तविक विकास का आयाम प्राप्त कर लेता है, मुक्ति धाम पर पहुँच जाता है।

आसक्ति से अनासक्ति की दिशा में आगे बढ़ने के साथ-साथ इन सांसारिक दुःखों का अन्त होता रहता है तथा वास्तविक सुखों की अनुभूति बढ़ती रहती है। इन्द्रिय सुखों के प्रति आसक्ति, जो पहले पहल आत्मा को आकर्षित करती है, वह अनासक्ति की साधना के साथ मन्द होती जाती है और विकास के वास्तविक आयाम की ओर गतिशीलता प्रखर बनती जाती है।

इन्द्रियों की विषय वृत्तियाँ और समस्याएँ

जहाँ पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों का प्रश्न है, उनके कारण अनेक प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा उनसे अनेक प्रकार की समस्याएँ भी। ये समस्याएँ इतना विकट रूप ले लेती हैं कि कई बार चाहते हुए भी मानव उनका समाधान करने में विफल हो जाता है। इसका कारण यही होता है कि वह इन समस्याओं की कारणभूत भोग वृत्तियों को नियंत्रित एवं संयमित नहीं कर पाता तथा स्थूल एवं बाह्य समाधान खोजते रहने से उन समस्याओं का हल संभव नहीं होता।

वस्तुतः भोगवृत्तियों से उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु बाहरी उपचार उपयोगी नहीं होगा। उसके लिये अपने ही अन्तःकरण के भीतर झांकना होगा और मोह के विकराल रूप को समझना होगा, जो बाहर आसक्ति के रूप में आत्मा को मूर्च्छित सा बनाये रखता है। आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देने वाला पुरुष ऐसी समस्याओं का सुन्दर समाधान अपनी आन्तरिकता से जुड़कर ढूँढ़ने को तत्पर बनता है, लेकिन इस सत्य को भी समझ लेना चाहिये कि धार्मिक क्रियाओं के मात्र बाह्य रूप को आचरित कर लेने से उन समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा। उन समस्याओं एवं वृत्तियों के रहस्य का उद्घाटन तो अन्तःकरणपूर्वक भावनाओं के रूपान्तरण से ही हो सकेगा।

मिहिर श्रावक का प्रसंग चल रहा है। वह साधक चिन्तन कर रहा था कि ये भौतिक समस्याएँ दिन-प्रतिदिन उलझती जा रही हैं, जबकि यह सारा भौतिक वैभव, सांसारिक माया और भोग सामग्रियाँ सब यहीं छूट जाने वाली हैं। मुझे इन सबकी प्राप्ति हुई है लेकिन क्या ही अच्छा हो कि मैं अपनी भावना के

रूपान्तरण से इन वृत्तियों को संशोधित बना लूं तथा विकट दिख रही समस्याओं को सरलतापूर्वक सुलझा लूं। मैं इस दिशा में प्रयत्न कर रहा हूँ किन्तु अभी तक सफलता नहीं मिल रही है। सफलता पाने के लिये मैं नियमित रूप से एवं अन्तःकरणपूर्वक आध्यात्मिक जीवन की प्रक्रियाओं को साधूं तथा भीतर के स्वरूप को स्वयं देखूं। तभी मिहिर श्रावक को संवाद मिला कि बाहर उद्यान में आचार्य जिनसेन का पदार्पण हुआ है। वह दर्शन और प्रवचन श्रवण के लिये चल पड़ा।

आचार्य की सेवा में पहुँच कर उसने दर्शन किया, प्रवचन सुना तथा बाद में विनयपूर्वक निवेदन किया— भगवन्, मेरे हृदय में इन्द्रियजन्य भोग वृत्तियों से सम्बन्धित आसक्ति भाव की विकट समस्याएँ उमड़-धुमड़ रही हैं। मैं उनका सुन्दर समाधान चाहता हूँ। कृपया मेरा मार्गदर्शन कीजिये।

आचार्य ने मिहिर श्रावक को उद्बोधित किया—भद्र, तुम्हारी जिज्ञासा समुचित है, क्योंकि इसी के माध्यम से तुम्हें मार्ग मिलेगा। देखो, सारी समस्याओं की मूल समस्या तुम्हारे अपने ही मन में निहित है। मन को व्यवस्थित नहीं कर पाने के कारण ही तुम भीतर प्रवेश नहीं कर पा रहे हो। इस सारी उलझन का कारण तुम्हारा ही मन है। इसको नियंत्रित एवं संयमित करने के लिए तुम्हें अपने वर्तमान को अतीत के साथ जोड़ना होगा क्योंकि भूतकाल का तुम्हारा जीवन ही वर्तमान में फलित हुआ है। जो-जो शुभाशुभ कर्म तुमने भूतकाल में बांधे हैं, उन्हीं के फलस्वरूप तुम्हारे वर्तमान जीवन का स्वरूप चल रहा है। अतः कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर सारे विषय को समझना होगा।

मिहिर श्रावक ने हाथ जोड़कर कहा— भगवन्, यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। कारण, पूर्व जीवन को तो मैं कभी का छोड़ चुका। यहाँ तो मैंने अच्छे परिवार में जन्म लिया है, वीतराग वाणी के अनुसार नित्य नियम करता हूँ, सामायिक करता हूँ तथा श्रावक के व्रतों का पालन करता हूँ, फिर मुझे दोनों लोक में सुख देने वाले धर्म का लाभ क्यों नहीं मिल रहा है? मुझे अभी तक अलौकिक आनन्द की अनुभूति क्यों नहीं हो रही है?

आचार्य ने शंका समाधान किया— तुम्हारा प्रश्न योग्य है। मन्द बुद्धि व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता अतः तुम जैसे बुद्धिमान् को तो अपनी क्रियाओं के प्रयोजन को समझना ही चाहिये। यही तुम्हारी जिज्ञासा है।

आसक्ति छोड़े बिना आत्मशुद्धि नहीं

मिहिर श्रावक आचार्य की वाणी से सहमत होता हुआ कहने लगा— भगवन्!

मैं पिछले पचीस वर्षों से सामायिक आदि श्रावक के व्रतों का पालन कर रहा हूँ क्योंकि मैं राजा श्रेणिक और पूणिया श्रावक के सामायिक प्रसंग को जानता हूँ। किन्तु अभी मैं संसारी हूँ और संसार में रहते हुए जीवन की समस्याओं का समाधान चाहता हूँ। जब पूणिया श्रावक की एक सामायिक की दलाली भी बावन पहाड़ों जितने स्वर्ण से अधिक बताई गई है फिर मैंने तो हजारों सामायिक कर ली है, फिर मेरी समस्याओं का समाधान क्यों नहीं होता?

आचार्य ने स्पष्टीकरण दिया—व्रत लेकर चलना सरल है लेकिन उनका बाह्य रूप से तथा मुख्यतः आन्तरिक रूप से यथाविधि पालन करना उतना सरल नहीं। सामायिक का व्रत ग्रहण किया लेकिन भूमिका साफ नहीं की तो उसका यथोचित लाभ नहीं मिलेगा। मूल रूप से व्रत प्रत्याख्यानों का उद्देश्य आत्मशुद्धि है और आत्मशुद्धि आसक्ति को छोड़ने से ही मिल सकती है। तुम जानते हो कि यह आसक्ति क्या है? एक तो संसार में रहते हुए सामान्य रूप से इन्द्रिय सुखों का भोग किया जाता है लेकिन दूसरी अवस्था यह भी होती है कि उन भोगों में प्रगाढ़ गृद्धि उत्पन्न कर ली जाती है जैसे कि सारा मन उन्हीं में रच-पच गया हो। मन की ऐसी मूर्च्छा को ही आसक्ति कहा गया है। आसक्ति है भोगों के प्रति अंधा मोह। अतः जब तक ऐसी आसक्ति बनी रहती है, आत्म भावों में आध्यात्मिक जागृति का उदय नहीं होता है और उस जागृति के अभाव में आत्मशुद्धि संभव नहीं। आत्मशुद्धि के लिए अनासक्ति का वरण आवश्यक है।

आचार्य प्रतिबोध देते रहे—पर-पदार्थों के साथ जो तुमने मोह-ममत्व का नाता जोड़ रखा है, वही आसक्ति भाव का सेवन है। इसे छोड़ने के लिए ही व्रत-प्रत्याख्यानों को ग्रहण किया जाता है। लोग समझते हैं कि व्रत-प्रत्याख्यान तो बन्धन रूप हैं किन्तु वास्तव में ये बंधन नहीं बल्कि कर्मजन्य-बन्धनों को नष्ट करने वाले होते हैं। इन नियमों का विधिपूर्वक पालन करना चाहिये। श्रावक, तुमने बताया कि तुम पिछले पचीस वर्षों से सामायिक आदि व्रतों की आराधना कर रहे हो किन्तु सोचो कि एक व्यक्ति स्नान करने के लिये बैठा है। वह एक तरफ तो लोटे से अपने सिर पर पानी डाल रहा है और दूसरी तरफ धूल भरी गहरी आंधी चलती जा रही है तो बताओ कि वह कितना भी पानी अपने सिर पर डालता जाये क्या उसके शरीर की सफाई हो सकेगी?

मिहिर श्रावक गहरे विचार में पड़ गया। वह बोला—भगवन्, जब आंधी की धूल बराबर शरीर पर गिरकर चिपकती जा रही है तो कितना ही पानी क्यों न गिराया जाये, उस शरीर की शुद्धि संभव नहीं है।

तभी आचार्य बीच में बोले—ठीक इसी प्रकार जब सांसारिक पदार्थों के प्रति मोहपूर्ण आसक्ति भाव धूल के समान जमा हुआ है और बराबर जमता जा रहा है, तब सामायिक आदि व्रतों का पचीसों वर्षों से डाला जा रहा निर्मल जल भी क्या उस साधक को आत्मशुद्धि के लक्ष्य तक पहुँचा सकेगा? ऐसा स्नान क्या कभी पूरा भी होगा?

आस्रव को रोको तो संवर सफल होगा

आचार्य ने आगे कहा—देखो, उस स्नान को सफल बनाने के लिये पहले उस धूल के बहाव से बचना होगा यानी उस प्रवाह को रोकना होगा। जब धूल लगातार बदन पर नहीं जायेगी तो पहले जमी हुई धूल को धोने में ज्यादा श्रम और समय नहीं लगेगा फिर शरीर शुद्धि का कार्य भी जल्दी ही पूरा हो जायेगा। उसी प्रकार संसार में रहते हुए भी भोग जन्य आसक्ति के भावों की धूल से पहले बचना होगा यानी कि आसक्ति को त्यागना होगा। आसक्ति जब घटेगी और मिटेगी तो तदनुसार आत्मशुद्धि का पवित्र कार्य भी सफलतापूर्वक सम्पन्न होता हुआ चला जायेगा। इसी विषय को तात्त्विक दृष्टि से यों समझो कि पहले आस्रव का निरोध करो तभी संवर को सफल बना सकोगे। एक तालाब में गंदा पानी भरा है और गंदे पानी के आने के सारे नाले भी खुले हैं। उनसे लगातार गंदा पानी आता जा रहा है तो सोचो कि उस गंदे पानी से तालाब को कब तक मुक्त कर सकोगे? इसलिये पहले यह करना होगा कि गंदे पानी के आने के सभी नाले बंद कर दिये जायें, फिर भरे हुए गंदे पानी को निकाल कर बाहर फेंक देना कठिन नहीं रहेगा। आत्मशुद्धि का यही मार्ग है।

मिहिर श्रावक की जिज्ञासा और आचार्य के इस प्रतिबोध के संदर्भ में आप भी सोचिये कि आपकी भी आत्मशुद्धि किस विधि से हो सकेगी? आपको वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान पाना है तो भूतकाल की जमी हुई धूल को और जमती जा रही धूल को रोकना होगा, आस्रव का निरोध करना होगा। यह धूल है पूर्व जन्म के कर्मों की और नित्य बंधते जाने वाले कर्मों की। यह धूल लगातार आत्मा के स्वरूप पर मैल की परतें चढ़ाती जा रही है—चाहे आप व्रताधान का निर्मल जल उस पर उड़ेलते जाते हैं फिर भी पूर्ण शुद्धि की स्थिति नहीं आती है। इस हेतु अनासक्ति भाव से धूल का जमना बंद हो जायेगा तो जमी हुई परतों का धुलना भी शुरू हो जायेगा। अनासक्ति योग का यह पवित्र क्रम चलता जायेगा और आत्मशुद्धि की उज्ज्वलता निखरती जायेगी।

कर्म बंध की जटिल प्रक्रियाएँ

भगवती सूत्र में वर्णन आया है कि एक शिकारी निरपराध हिरण को बाण से मार देता है तो इसमें कर्म बंध की जटिल प्रक्रिया समझने लायक है। यों तो यदि कोई प्राणों का सर्जन नहीं कर सकता तो उसे किसी के प्राणों का हरण करने का क्या अधिकार हो सकता है? किन्तु सूक्ष्मता की दृष्टि से भगवान् महावीर ने गौतम से पूछा कि उस हिरण के वध में कितनी क्रियाएँ लगीं? गौतम ने निवेदन किया—शिकारी को तो पांच क्रियाएँ लगीं किन्तु शिकार का साधन बाण और उसके अग्रभाग पर लगा हुआ लोहे का टुकड़ा भी वध में प्रयुक्त हुआ तो उस लकड़ी व लोहे के जीवों को भी क्रिया लगी। पहले वे लकड़ी और लोहे के टुकड़े जिन जीवों के शरीर रूप थे—पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय आदि के उन जीवों ने यदि मृत्यु समय में देह मोह नहीं त्यागा हो तो वे भी इस वध की क्रिया के भागीदार होंगे। महावीर प्रभु ने विस्तार से प्रकाश डाला कि शरीर कैसा भी क्यों न हो, लेकिन जिस आत्मा ने उस शरीर को धारण किया और उसके प्रति उसका आसक्ति भाव रहा अतः मृत्यु से पूर्व यदि वह आसक्ति भाव नहीं त्यागा गया और बाद में उस शरीर का पाप कार्यों में उपयोग होगा तो उसका दायित्व उस पर रहेगा।

भगवती सूत्र के ही सत्तरहवें शतक में कहा गया है कि बहिर्न रसोई बनाती हैं और उसमें लोहे के चिमटे, तवे आदि का प्रयोग करती हैं। इसमें रसोई की क्रिया का पाप बहिर्नों को और खाने वाले भाइयों को लगेगा, उसी तरह जैसे कि पुरुषों के व्यापार का पाप सहयोगिता के आधार पर महिलाओं को भी लगेगा, लेकिन लोहे के चिमटे, तवे आदि के पूर्ववर्ती जीवों को भी पाप लगेगा, जिनके पहले ये शरीर रूप रह चुके थे।

एक उदाहरण से कर्म बंध की इस जटिल प्रक्रिया को समझ लें। कल्पना करें कि एक फर्म में कई भागीदार हैं। एक भाई उसमें नया भागीदार बना और परिस्थिति ऐसी बनी कि उसे तुरन्त ही वह स्थान छोड़ देना पड़ा। उस स्थान से वह ऐसे स्थान पर पहुँच गया जहाँ किसी को पता ही नहीं चला कि वह किस स्थान से आया है। कोई फर्म चलती है तो लाभ-हानि होती ही है। लाभ होता है तो वह सब भागीदारों में बंटता है और हानि भी सबको भुगतनी पड़ती है। उस फर्म में लाभ हुआ तब नये भागीदार का पता नहीं लगने से उसके खाते में राशि जमा कर दी गई लेकिन बाद में उस फर्म में बहुत ज्यादा हानि हो गई। तब सवाल उठा कि उस नये भागीदार की हानि के हिस्से का क्या हो, जो पिछले लाभ की राशियों से कई गुना बढ़कर था? मामला कानून और सरकार के हाथ

में गया तब उस नये भागीदार का पता लगाया गया। फिर उससे कहा गया कि वह अपने हिस्से की हानि की राशि जमा करावे। उस भागीदार ने दलील दी कि उसने लाभ का अपना हिस्सा भी नहीं लिया तथा वह फर्म के कार्य से सीधा सम्बन्धित भी नहीं था अतः हानि की राशि नहीं देगा। क्या उसकी यह दलील मानी जायेगी? नहीं मानी जायेगी और उसे हानि चुकानी पड़ेगी।

ऐसा क्यों होता है? एक फर्म में भागीदारी होने का अर्थ है उसके साथ अपने मोह सम्बन्ध का स्थापित होना— आसक्ति का पैदा होना। नया भागीदार जाते समय यदि भागीदारी समाप्त कर अपनी आसक्ति का सम्बन्ध तोड़ जाता तो उस पर हानि की राशि चुकाने की जिम्मेदारी नहीं रहती। लेकिन भागीदारी के सम्बन्ध को उसने बरकरार रखा, आसक्ति का त्याग नहीं किया तो उससे कितना ही दूर हो जाने पर भी वह उसकी जवाबदारी से मुक्त नहीं होता है। ऐसी ही क्रिया इस प्रकार हिरण के वध में प्रयुक्त बाण रूप लकड़ी व लोहे के शरीर धारी जीवों को लगती है।

आसक्ति त्यागें, अनासक्ति अपनावें

किसी भी वस्तु, चाहे वह अपनी बिल्डिंग हो या अपनी ही देह—के साथ यदि विवेकपूर्वक आसक्ति नहीं त्यागी गई है तो उससे सम्बन्धित भावी क्रियाओं का पाप उस आसक्ति पुरुष को लगेगा। इसी कारण जो अपनी मृत्यु से पूर्व कम से कम सभी वस्तुओं के प्रति अपना आसक्ति भाव त्याग देता है और अनासक्ति को अपना लेता है, वह भावी क्रियाओं के पाप से भी मुक्त हो जाता है। मोह-ममत्व का बंधन बड़ा जटिल होता है और सच पूछें तो ये बंधन ही आत्मा को संसार चक्र में परिभ्रमण कराते और दुःखित बनाते रहते हैं।

आसक्ति भाव की इस जटिलता को समझकर ही इन्द्रियजन्य विषय—भोगों का और उनसे निर्मित वृत्तियों तथा समस्याओं का बारीकी से अध्ययन किया जाना चाहिए जिससे मन की गहराइयों में प्रवेश करके उसकी गति को सुव्यवस्थित बनाने का अवसर प्राप्त हो सके। जिन-जिन पदार्थों के प्रति अपने मन में मोह-ममत्व या आसक्ति भाव है, सोच समझ कर यथासमय उसका त्याग कर लेना चाहिये और अनासक्ति-अवस्था में जीवन व्यतीत करना प्रारंभ कर देना चाहिये जिससे भावी पाप क्रियाओं से बचा जा सके। दूसरी ओर अनासक्ति अवस्था से आत्म शक्तियों का विकास भी त्वरित गति से सम्पादित किया जा सकेगा।

व्यक्तिगत पदार्थों के सिवाय इस दुनिया में जितने सार्वजनिक संस्थान, क्लब, सिनेमाघर आदि सबके उपयोग के लिये हैं, उनसे भी एक विवेकशील आत्मा को यथासमय अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिये ताकि सम्मिलित रूप से लगने वाली पाप क्रियाओं से भी बचा जा सके। इस हेतु यथा समय त्याग-प्रत्याख्यान कर लेने चाहिये। जिसने ऐसी रोक नहीं लगाई और अपने गाँव में ही रहता है, मुम्बई नहीं जाता, वहाँ के होटल-ढाबों में खाना नहीं खाता फिर भी वैसे त्याग-प्रत्याख्यान नहीं करने के कारण वहाँ की पाप क्रियाओं में भी उसकी भागीदारी रहती है। क्यों? इसे समझिये। एक संयुक्त परिवार है—करोड़ों की सम्पत्ति है और करोड़ों का आय-व्यय। करोड़ों का कर्ज भी रहता है। उस परिवार में एक बालक का जन्म हुआ। उसने अपनी समझ से कोई कार्य नहीं किया लेकिन उस परिवार की सम्पत्ति, आय या ऋण में उसकी भागीदारी रहेगी या नहीं? यदि उसे परिवार के प्रति जिम्मेदारी नहीं निभानी है तो उसे अपनी भागीदारी निकालनी होगी। यदि उसे नहीं निकाल पावे तब तक उसकी जिम्मेदारी भी भुगतनी होगी। आपके सांसारिक क्षेत्र की यह स्पष्ट स्थिति है या नहीं?

यह भागीदारी वही आसक्ति है और आसक्ति की पाप क्रिया से किसी भी अवस्था में बचा नहीं जा सकता। बचने का एक ही उपाय है कि आसक्ति का त्याग कर दो और अनासक्ति भाव को अपना लो। आसक्ति का पूर्णतः त्याग करने की क्षमता न हो तो प्रत्येक आवश्यक पदार्थ अथवा प्रक्रिया की सीमा का निर्धारण कर लो ताकि उस सीमा से बाहर की पाप क्रियाओं से तो बचा जा सके। सभी पदार्थों के प्रति यह सीमा निर्धारण न सिर्फ उनके उपयोग को सीमित बनायेगा बल्कि उनके प्रति रहे हुए आसक्ति भाव को उतनी ही सीमा में बांध देगा। इससे लाभ यह होगा कि उस सीमा के अलावा सम्पूर्ण पदार्थों के उपयोग और उनके प्रति रहने वाले आसक्ति भाव का त्याग हो जायेगा। चूंकि सीमा निर्धारण से आसक्ति भाव सीमित हो जायेगा तो पाप क्रियाओं का बोझ भी उसके अनुसार हलका हो जायेगा। सीमा के सिवाय शेष का त्याग आसान है किन्तु यह विवेक की बात है।

व्यर्थ की पाप क्रिया से तो बचिये ही

इस संसार में जितना भी व्यर्थ का पाप होता है उससे यदि आपको कोई प्रयोजन नहीं है तो जितनी सीमा रखनी हो उसे रखकर शेष का प्रत्याख्यान बिना किसी कठिनाई के किया जा सकता है। भविष्य की आवश्यकताओं का भी नियम में समावेश किया जा सकता है किन्तु व्यर्थ की पाप क्रिया से बचने का यह कदम तो सभी विवेकशील आत्माएँ सरलतापूर्वक उठा सकती हैं।

बीकानेर में त्यागमूर्ति भैरूदान जी सेठिया के बड़े पुत्र जेठमल जी थे। वे चातुर्मास में सरदारशहर आये। वहाँ भी प्रसंगोपात यह विषय चर्चित हुआ था तो प्रवचन के तुरन्त बाद जेठमल जी ने कहा कि छोटे आगार रखवाकर आप मेरे आसक्ति भाव का त्याग करा दीजिये। ग्यारह नवकार मंत्र के उच्चारण के साथ उन्होंने वह त्याग स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार आज भी भाई-बहिन व्यर्थ के पापों का त्याग करके उतना अनासक्त भाव अपना सकते हैं। मर्यादा में धर्म है, का यही सार है। आसक्ति जितने अंगों में मिटेगी उतनी ही मन की चंचलता घटेगी, कर्मों की धूल आत्म-स्वरूप पर कम लगेगी और शुद्धि का पुरुषार्थ जल्दी सफल हो जायेगा।

अनासक्ति की अपार महिमा

उत्तराध्ययन सूत्र में अनासक्ति की अपार महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे कमल कीचड़ में पैदा होकर भी उससे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार काम भोगों में लिप्त और आसक्त न होने वाले पुरुष को ब्राह्मण कहते हैं। जो आत्मा रूप-रस, गंध आदि में तीव्र आसक्ति रखती है, वह असमय ही विनाश को प्राप्त होती है।

अनासक्त पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह इहलोक और परलोक के सुखों में आसक्ति रहित होता है। इसी कारण वह सद्गुरुओं का सेवन उन भौतिक सुखों को पाने की आशा में नहीं करता। वसूले से शरीर छीलने वाले शत्रु से वह द्वेष नहीं करता तथा अपने शरीर पर चन्दन का लेप करने वाले पर भी राग भाव नहीं लाता। मनोज्ञ या अमनोज्ञ परिस्थितियों में वह सदा समभाव रखता है।

यों मानिये कि अनासक्ति ही समभाव है तथा एक समभावी अपनी आत्मशुद्धि के उत्कृष्टतम स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

3

दुर्लभ श्रद्धा

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे...

मानव अपने जीवन को सदा ऊँचा बनाना चाहता है। उन्नत बनने की उसकी मूल आकांक्षा होती है। जीवन यशस्वी बने, प्रतिभा सम्पन्न हो, लोकप्रियता प्राप्त करे, जनजीवन के नेतृत्व का अवसर पावे और संसार के लोगों को अपनी ओर प्रभावित कर सके—ऐसी कामनाएँ प्रत्येक प्रबुद्ध पुरुष के मन में उभरती रहती हैं। तदनुसार उसके प्रयत्न भी चलते रहते हैं। ऐसा होना एक दृष्टि से आवश्यक भी है। विकास की इच्छा बलवती बनती है, तभी उस दिशा में गति करने की प्रवृत्ति भी सशक्त होती है।

अनुरूप कार्य पद्धति का निर्माण

इच्छा रखना और इच्छा-शक्ति का बनाना एक बात है किन्तु उसकी सफलता इस तथ्य पर आधारित रहती है कि वह अपने साध्य को प्राप्त करने के लिये किस कार्य पद्धति का निर्माण करता है तथा उसमें अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करने में कैसी विधि अपनाता है। अपने साध्य तथा अपनी इच्छा शक्ति के अनुरूप ही अपनी कार्य पद्धति का निर्माण किया जा सके तभी सफलता की स्थिति सामने आ सकती है।

वर्तमान जीवन की विडम्बना यही है कि जो साध्य को भी यथायोग्य रीति से समझ लेते हैं तथा यथाशक्ति इच्छा को भी बलवती बना लेते हैं वे भी अनुरूप कार्य पद्धति का निर्माण नहीं कर पाते हैं। विचार जो उनके मस्तिष्क की गहराई में उपजते हैं, वे अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। यह वैचारिकता का जो अस्तित्व है, उसे आधुनिक मनोविज्ञान 'कांशियस माइन्ड' कहता है। यह मस्तिष्क की एक कार्यकारी स्थिति है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्थिति आचरण को यथोचित रीति से ढाल लेने में पूर्ण समर्थ होती है। यह स्थिति तो संकेत मात्र है वैचारिकता की सामान्य योग्यता की। ऐसे मस्तिष्क को यदि

जागरूकता से हृदय की श्रेष्ठ भावनाओं के साथ सम्बद्ध बना लें तो आत्म विकास के अनुरूप कार्य पद्धति की रचना की जा सकती है। यदि अन्तःकरण की गहराइयों में उठने वाली भावनाओं और विचार तरंगों को समझने की क्षमता आ जाय तो वह तदनु रूप अपने जीवन-मूल्यों को सम्पादित करने में पीछे नहीं रहता है। ये सारी शक्तियाँ आज के मानव के अन्तस्तल में रही हुई हैं। वे खुली या दबी हुई हो सकती हैं किन्तु उनको प्रकट करने का पुरुषार्थ जगाकर उन शक्तियों को कार्य रूप दिया जा सकता है।

जैसे इत्र का फोहा आड़ में पड़ा रहे तब भी उसकी महक दबी हुई नहीं रहती और आस-पास रहने वाले लोगों की घ्राण शक्ति को प्रभावित करती ही है, उसी प्रकार शक्तियों की अनुभूति प्रतिबाधित नहीं रहती है। ऊपर वासुपूज्य भगवान् की प्रार्थना में जो 'घननामी' शब्द आया है उसके आदर्श को हृदयंगम किया जाना चाहिए। प्रवचन के पहले प्रभु की प्रार्थना करने का यही अभिप्राय है कि प्रार्थना की पंक्तियों में समाये हुए आदर्श मूल्यों को प्रवचन में परिभाषित एवं विश्लेषित करें। इससे भव्य आत्माओं के स्मृति-पटल पर वीतराग देवों का ज्योतिर्मय स्वरूप उभरता है तो उनकी उन आदर्शों के अनुकरण के प्रति अभिरुचि जागती है। क्योंकि इन प्रार्थनाओं में दार्शनिक एवं तात्त्विक दृष्टि से गूढ़ भावों का अंकन किया गया है। इन गूढ़ भावों पर गहरा मनन और चिन्तन किया जा सकता है।

ऐसा चिन्तन-मनन जितनी गहराई पकड़ता है, उतनी ही हृदय एवं मस्तिष्क की क्षमता परिपुष्ट बनती है तथा वह क्षमता ही अनुरूप कार्य पद्धति को जन्म देती है।

श्रद्धा की पुष्ट पृष्ठभूमि

जीवन में उन्नति की कामना के आधार पर ही आप लोग दूर-दूर के अपने निवास स्थानों से यहाँ पर आते हैं। यहाँ आने के लिये आप अपने वहाँ के सांसारिक व्यवहारों अथवा गृहस्थी के कार्यकलापों का मोह भी छोड़ते हैं। आखिर क्यों? उन्नति तो मूलतः आप चाहते हैं किन्तु उस उन्नति को प्राप्त करने के लिए अनुरूप कार्य पद्धति का निर्माण करना भी चाहते हैं क्योंकि आप जानते हैं कि श्रेष्ठ साध्य को सम्पादित करने के लिये श्रेष्ठ साधनों को अपनाया जाना भी अनिवार्य है। इसी स्थिति को समझकर अपने जागृत मस्तिष्क की बहुतेरी शक्ति को खर्च करके आप यहाँ पहुँचते हैं। आप यह भी समझते हैं कि जीवन के विकास का वास्तविक ज्ञान सन्त समागम से ही प्राप्त हो सकता है।

यह जो आपकी जागरूक प्रवृत्ति है, क्या आपने कभी सोचा है कि यह क्यों गतिशील बनती है? इस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में यह आपकी पुष्ट श्रद्धा की प्रेरणा है। किन्हीं लोगों के मन में यह श्रद्धा विवेक सम्पन्न व्यवस्थित स्वरूप ग्रहण न कर सकी हो यह दूसरी बात है परन्तु मूल में जमी हुई श्रद्धा ही के प्रभाव से आप यहाँ पर अपने जीवन की उन्नति की इच्छा लेकर आते हैं।

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आप की यथारूप चिन्तनशक्ति के अनुसार प्रवचन रूप वीतराग देवों की वाणी को सुनाने में अधिक गहराई तक भी ले जाने का प्रयास किया जाय तो क्या आपको थकान तो महसूस नहीं होगी? मेरा मत है कि होनी नहीं चाहिये। प्रभु की प्रार्थना के प्रसंग से कुछ बातें रख गया हूँ और अब गाथाओं का प्रसंग रखता हुआ चला जा रहा हूँ। इसमें कितना गूढ़ रहस्य है यह तो शब्दों और भावों की विशिष्टता में पहुँचने वाले महानुभाव ही अनुभव कर सकते हैं। मैं कह रहा था कि प्रार्थना में 'घननामी' शब्द आया है। यह घननामी और कोई नहीं बल्कि इसी देह में विराजित चैतन्य देव है परन्तु विडम्बना यही है कि घननामी ही घननामी को समझ नहीं पा रहा है। उस स्वरूप के प्रति यह अज्ञान चिन्तनीय है।

एक विद्यार्थी किसी विद्यालय में प्रवेश लेता है और एक से दूसरी कक्षाओं में आगे बढ़ता है। तब उसके मन में कैसी-कैसी तरंगें उठती हैं? वह सोचता होगा कि मैं यह डिग्री लूँ और वह डिग्री लूँ या कि मैं ऐसा बनूँ और वैसा बनूँ— तो बताइये कि ऐसी कल्पनाएँ उस विद्यार्थी को कितने समय तक प्रभावित करती रहती हैं? इसका अनुभव वह विद्यार्थी ही करता है और उत्तर भी वही दे सकता है। यों उस की ऐसी भावनाएँ तरुणाई की सीढ़ी पर पहुँचने तक चलती रहती हैं। इसी प्रकार आपके मन में भी जीवन की उन्नति से सम्बन्धित तरंगें उठती होंगी। उन पवित्र तरंगों को आप पकड़ें और समझें, उन्हें दबावें नहीं। उन भावनाओं में अपने जीवन के विराट् स्वरूप को देखने का प्रयत्न कीजिये जो श्रेष्ठ की परिपुष्टता के साथ स्पष्टतर होता हुआ चला जायेगा।

श्रद्धा को दुर्लभ क्यों कहा है?

नवीन जीवन का विराट् स्वरूप आपके ही अपने भीतर रहा हुआ है। विराट् स्वरूप का जन्म माता की कुक्षि में नहीं होता। जन्म तो शरीर का होता है लेकिन विराट् स्वरूप को जन्म देने वाली अपनी ही आत्मा होती है जो इसी शरीर पिंड में रहती है।

इस विराट् स्वरूप का जन्म होगा कैसे? विराट् स्वरूप प्रकट होता है दृष्टि

के परिवर्तन से, उसकी स्थिरता से। दृष्टि का अर्थ ही दर्शन होता है तथा दर्शन का अध्ययन-मनन और चिन्तन ही आत्म-विकास के प्रति दृष्टि को स्थिर बनाता है। यह समझें कि यह दृष्टि विकास ही आत्म-विकास है। और दृष्टि ही दर्शन है तथा दर्शन नाम है श्रद्धा का। ज्ञान के बाद दर्शन का इसी कारण स्थान है कि आचरण के साथ प्रगाढ़ श्रद्धा की परिपुष्टता अत्यन्त ही आवश्यक है। प्रभु महावीर ने इसी दृष्टि से फरमाया है—

‘सद्धा परम दुल्लहा’

अर्थात् श्रद्धा परम दुर्लभ होती है। एक ही वाक्य में कितना सचोट सत्य प्रकाशित कर दिया गया है। अपने घननामी को अनुभव करने, उस घननामी को इस घननामी में प्रतिष्ठित करने हेतु पुरुषार्थ जगाने का यह श्रद्धा ही बड़ा सशक्त माध्यम है।

श्रद्धा से ही प्रतीति होती है और प्रतीति से रुचि। यह रुचि ही पुरुषार्थ की आधारशिला बनती है। जहाँ तर्क का प्रवेश न हो ऐसे धर्मास्तिकाय आदि पर व्याख्याता के कथन से विश्वास कर लेना श्रद्धा है। श्रद्धा के साथ जब व्याख्याता को सुना जाता है तब उसकी युक्तियों द्वारा समझ कर विश्वास करना प्रतीति की परिभाषा में आता है। व्याख्याता द्वारा उपदिष्ट विषय में श्रद्धा करके उसके अनुसार तप, चारित्र आदि के सेवन करने की इच्छा करना रुचि कहलाता है। इसी शुद्ध श्रद्धा की नींव पर विनय, अनुभाषण, अनुपालना तथा भाव शुद्धि तक की कार्य पद्धति का निर्माण सुदृढ़ बनता है। इसी श्रद्धा की प्रेरणा से आप सन्त समागम में आते हैं। उसी श्रद्धा को प्रगाढ़ बनाकर आपको अपनी आन्तरिकता में प्रवेश करने का अवश्य ही प्रयास करना चाहिये। भीतर प्रवेश करके वहाँ के रहस्य को उद्घाटित करने वाले पुरुष विरले ही मिलेंगे क्योंकि आज के युग में सामान्यतया दृष्टि स्थिर नहीं हो पाती है तो उसी अनुपात में श्रद्धा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रगाढ़ नहीं हो पाती है। आज अच्छे विचारों की बहुत आवश्यकता है किन्तु उसके ही साथ गहरी श्रद्धा की उससे भी पहले आवश्यकता है।

यही कारण है कि वीतराग देवों ने इस श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा है। उन्होंने तप को दुर्लभ नहीं कहा, चारित्र को दुर्लभ नहीं कहा या किसी अन्य विचार को दुर्लभ नहीं कहा। केवल श्रद्धा को दुर्लभ ही नहीं अपितु परम दुर्लभ कहा है, क्योंकि श्रद्धा के ही बल पर चारित्र्य का निर्माण होता है तथा जीवन के श्रेष्ठ मूल्य प्रखरता से अभिव्यक्त होते हैं। सन्त समागम की अभिलाषा लेकर आप दूर-दूर के प्रदेशों से यहाँ आवें तो उस आगमन में श्रद्धा की सच्ची कसौटी यह

होगी कि आप सन्तों द्वारा उपदेशित वचनों में कितना गहरा विश्वास करते हैं तथा उनको आधारभूत बना कर अपने जीवन में कैसी गति से उन्नति की दौड़ को जीतते हैं? सच्चरित्र पुरुष के प्रति जब तक पूरा विश्वास नहीं होगा, तब तक अच्छे चरित्र का विकास भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि विचार सही नहीं होगा तो उच्चारण भी सही नहीं हो सकेगा— फिर आचरण सही कैसे हो सकता है?

आचरण का आधार सच्ची श्रद्धा

आचरण रूपी वृक्ष, जिस भूमि से रस ग्रहण करके पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है, वह भूमि सच्ची श्रद्धा की ही होती है। आचरण अन्तःकरण की प्रक्रिया से जो सम्बन्धित होता है उसे जोड़ने वाली कड़ी श्रद्धा ही है। एक आम का विशाल वृक्ष फलता और फूलता है तो क्या उसे रस उसकी शाखा-प्रशाखाओं से मिलता है या उस जमीन से जिस पर वह खड़ा होता है? निश्चय ही उसे रस जमीन से मिलता है जिसके आधार पर ही वह खड़ा रहता है। जमीन के रूप में श्रद्धा को समझिये जिसके आधार पर सम्पूर्ण जीवनाचरण फलता और फूलता है। बाहर से विशाल दिखाई देने वाले आम्रवृक्ष की जमीन के भीतर फैली छोटी-छोटी जड़ें अगर जमीन से रस न लें तो क्या बाहर दिखाई देने वाला उस वृक्ष का विशाल रूप हरा-भरा और फला-फूला रह सकता है? उस आम्रवृक्ष का आम फल भी रस ग्रहण के अनुपात से ही मीठे रस वाला होता है। जड़ें या नींव जिसकी मजबूत होती हैं, उसका ही समुचित विकास संभव होता है।

मानव जीवन के विकास के संदर्भ में इसी उक्ति को इस प्रकार कह सकते हैं कि श्रद्धा जिसकी मजबूत होगी, सच्ची और स्थिर होगी, उसकी आत्मा का विकास भी उसी अनुपात से श्रेष्ठ और प्रभावोत्पादक होगा। आप विचार करें कि हमारे जीवन का मूल स्वरूप कहाँ स्थित है? मूल स्वरूप तो अपनी ही आन्तरिकता में रहा हुआ है अविकसित या अल्प-विकसित अवस्था में, किन्तु उसी मूल स्वरूप के पूर्ण विकास का ही तो प्रश्न हमारे सामने है और उसी विकास की आधारभूमि बनती है सच्ची और सुदृढ़ श्रद्धा।

इस तथ्य को यदि सम्यक् प्रकार से समझ लिया जाय तो आत्म-विकास का साध्य और उसके सभी साधन भी सम्यक् बन जाते हैं। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन है तो सम्यक् आचरण का स्वरूप बनेगा ही। ऐसे आचरण का प्रभाव भी सार्वदेशिक होता है। एक गुलाब का फूल आपके जलगाँव के बगीचे में खिले या किसी छोटे गाँव में या फिर किसी विदेश के किसी कस्बे में क्या उसकी सुगन्ध समान रूप से प्रभावशाली नहीं होगी या कि उसकी सुगंध के

प्रेमियों को अपनी ओर एक ही समान आकर्षित नहीं करेगी? जिसको गुलाब की सुगंध से प्रेम है, वे यह थोड़े ही देखेंगे कि गुलाब का फूल कहाँ लगा है। गुलाब का सुगंधित फूल है, यही उनके लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार श्रेष्ठ आचरण कहाँ है और किसके पास है—उन सब विषयों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण यही है कि आचरण की श्रेष्ठता यदि आ गई तो उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास की धारा अवश्य ही बह चलेगी।

दूसरी बात—अगर गुलाब की सुगंध प्रिय है या कि श्रेष्ठ आचरण विश्वास का भाजन या श्रद्धा का पात्र है तो उसको खोजने और प्राप्त करने के लिए कहीं भी जाने का उत्साह जग जाता है। यही नहीं, उस कार्य के लिये यदि किसी प्रकार के कष्ट भी उठाने पड़ें, तो उन कष्टों को खुशी-खुशी सहन भी कर सकते हैं। यह सब श्रद्धा का ही विषय होता है और उसी की प्रेरणा होती है।

श्रद्धा है तो सुख और सन्तोष भी है

श्रद्धा की सजलता से जब किसी का हृदय आप्लावित हो उठता है तो उस हृदय में सुख और सन्तोष की धाराएँ भी फूट पड़ती हैं। श्रद्धा की पृष्ठभूमि पर जब आचरण की साधना सफल होती है तो अपने अन्तःकरण में उससे उत्पन्न सुखानुभूति का आनन्द निराला ही होता है। श्रद्धा और सदाचरण की प्राप्ति से मनुष्य अपने विचारों से सुखी बनता है। इसकी पुष्टि में एक रूपक दे रहा हूँ।

पाटलीपुत्र नगर में गौतम बुद्ध विचर रहे थे। उनके सान्निध्य में एक भव्य धर्मसभा जुड़ी। सुगंध लेने के लिये बहुतेरी जनता वहाँ पहुँची। सम्राट, सेनापति, सचिव और विद्वान् भी उस सभा में पहुँचे। प्रवचन जब समाप्त हो गया तो महात्मा बुद्ध के ही प्रथम शिष्य आनन्द ने विनम्र भाव से उनसे पूछा—भगवन्, आज इस विराट् सभा के श्रोताओं से आप कृपा करके पूछिये और बताइये कि अधिक सुखी कौन है? आनन्द के प्रश्न को सुनकर बुद्ध ने सभा में चारों ओर अपनी दृष्टि घुमाई तो सब ओर शान्ति व्याप्त हो गई। महात्मा बुद्ध ने पहले सामान्य रूप से पूछा कि आप लोगों में अधिक पवित्र विचारों को वहन करने वाले, वाणी के माध्यम से सही उच्चारण तथा शरीर के माध्यम सही आचरण करने वाले और अपने अन्तःकरण को स्वस्थ एवं स्थिर बना लेने वाले कौन पुरुषार्थी व्यक्ति हैं?

किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया किन्तु सभी की जिज्ञासा प्रबल हो रही थी कि आनन्द के प्रश्न का उत्तर महात्मा बुद्ध किस रूप में देते हैं? किसी के भी हृदय में जिज्ञासा तभी प्रबल बनती है जब किसी भी दिशा में कुछ खोज करने

वाला मानस एकाग्र हो जाता है। सामान्य उत्तर न आने पर महात्मा बुद्ध ने सम्राट की ओर रुख किया और पूछा—राजा, तुम क्या चाहते हो? सम्राट ने कहा—मैं इतने लम्बे-चौड़े राज्य का स्वामी हूँ जिसे मैंने समृद्ध बनाया है लेकिन अभी बहुत कुछ कार्य करने हैं और अन्दर की इच्छा लम्बी है। बुद्ध ने सेनापति से यही बात पूछी तो उसने भी दृश्य जगत् की ही अपनी आकांक्षाओं के बारे में बताया। सचिव और अन्य विद्वानों ने भी ऐसी ही आकांक्षाएँ बताईं। फिर बुद्ध ने सबसे पीछे बैठे एक साधारण व्यक्ति से पूछा—बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है? वह पोशाक और चेहरे से भी सीधा-सादा था, बोला—मुझे किसी भी प्रकार की चाह न रहे—यही मैं चाहता हूँ।

उस साधारण व्यक्ति के उत्तर को आप समझें? ध्यान रखिये कि बाहरी वैभव और पोशाक वगैरह की चमक से कोई व्यक्ति महानता को स्पर्श नहीं कर पाता है। महानता तो उपजती है भीतर के स्वरूप से कि उसने अपनी भावनापूर्ण आन्तरिकता से बाहर का मूल्यांकन किस रूप में किया है। भगवान् बुद्ध ने कहा—ओ आनन्द, इस विराट् सभा में केवल यह साधारण व्यक्ति ही सुखी प्रतीत होता है।

सुख कहाँ है? क्या आप भी विचार करेंगे? कई लोग इसमें ही सुख मानते हैं कि इस मानव जीवन में विकारों का पोषण किया जाय। क्या इन्द्रियजन्य विकारों के पोषण से भ्रान्तिपूर्वक महसूस किया जाने वाला सुख निरन्तर सुख दे सकेगा? यह सुख नहीं सुखाभास होता है जो शराब से मिलने वाली महसूसगरी की तरह मालूम होता है। उपलब्धि होती है, लालसा बढ़ती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि इस जीवन का अन्त नहीं हो जाता। हाय-हाय करते ही मौत आ जाती है तथा यह अमूल्य मानव जीवन निरर्थक हो जाता है।

वास्तविक सुख वहाँ है, जहाँ पर श्रेष्ठ विचार हैं और उन विचारों के प्रति सच्ची श्रद्धा है। इस श्रद्धा के प्रभाव से ही सन्तोष-धन की प्राप्ति होती है—

श्रद्धा अनुप्राणित हो आन्तरिक जीवन से

सोचें कि एक नागरिक ने धन का उपार्जन किया और उसमें उसने नीति-अनीति का कोई खास खयाल नहीं रखा। ज्ञानीजन ही लेखा-जोखा कर सकते हैं कि उसने अपने उस धनोपार्जन में कितनी नीति बरती और कितनी अनीति का बर्ताव किया। उसने चाहे जैसे कर्म करके धन कमाया। लेकिन दूसरी

विचारणीय स्थिति यह आती है कि वह उस उपार्जित धन का उपभोग कहाँ और कैसे करता है। यह उसके विचारों पर, उसकी श्रद्धा पर निर्भर करेगा।

जिन पुरुषों के विचार और श्रद्धाभाव जब अपने संशोधित एवं विकसित आन्तरिक जीवन से अनुप्राणित होते हैं तो कई बार पाप की कमाई भी पुण्य के कार्यों में खर्च हो जाती है। इसकी विपरीत स्थिति भी देखने में आती है कि पुण्य की कमाई तो पाप कार्यों में खर्च होती ही है अपने बच्चे-बच्चियों के शादी ब्याह में आडम्बर का प्रदर्शन कर जैसे दिखाया जाता है कि उसके पास धन-वैभव की भारी शक्ति है। उसके विचार उठते हैं कि इस आडम्बर से लोग किस तरह प्रभावित होंगे और चारों ओर उसकी तारीफ करेंगे। आन्तरिक जीवन के पिछड़ेपन के कारण उन आडम्बरों को दिखाते हुए यह नहीं सोचा जाता कि इससे मेरे अनेक भाइयों के सीधे सादे जीवन में आग तो नहीं लग रही है, उनका जीवन नये-नये कष्टों से दुःखित तो नहीं बन रहा है। वह तो अपनी ही लालसाओं का पोषण करता है, दूसरों की भावनाओं के संत्रास को नहीं समझता। यह आन्तरिक जीवन की विकृति का ही दुष्परिणाम माना जायेगा।

वर्तमान युग में तो ऐसे विकारपूर्ण जीवन की जैसे होड़ ही मची हुई है। अधिकांश व्यक्ति अपने ही स्वार्थों के घेरे में कैद रहते हैं तो अपनी ही लालसाओं की पूर्ति के लिये नीति-अनीति का खयाल रखे बगैर कुछ भी करणीय-अकरणीय करते रहते हैं। ऐसे विषाक्त वायुमंडल में विरले ही व्यक्ति मिलेंगे जो इस प्रकार के विकारपूर्ण बहाव में न बहते हों। अपने ही विकारों के पोषण के लिये आज का मानव चोरी करता है, डाका डालता है और नाना प्रकार के अपराधों में लिप्त रहता है।

हृदय की ऐसी कलुषिता को धो डालने के लिये ही हमें श्रद्धा को अपनाना चाहिये ताकि सद्विचारों की प्रेरणा से सदाचरण की भूमिका पुष्ट बने तथा सन्तोष के अनुभव से आप्लावित बनकर सुखानुभूति की लहर हमारी आन्तरिकता को छू सके, उसे सात्त्विक विचारों से अनुप्राणित कर सके। ज्ञानीजन की भाषा में इसी कारण कहा गया है कि 'सन्तोषी सदा सुखी'। चाहे कितनी ही भौतिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तब भी सन्तोष का अनुभाव जीवन्त रहे-सम्पत्ति में रंच मात्र भी आसक्ति नहीं आवे तो वैसा सात्त्विक पुरुष सच्चे सुख की राह पर जरूर ही आगे से आगे बढ़ता हुआ अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकेगा।

आन्तरिक जीवन में जिस अनुपात से निर्लिप्तता प्रखर बनती जाती है, उसी के अनुसार दुर्लभ श्रद्धा भी सच्ची, स्थिर और श्रेष्ठ बनकर वैसे उन्नत

जीवन में सुलभ हो जाती है। तब उस कोटि का साधक साधु जीवन की ओर मुड़ता है तथा संयम की कठोर साधना के साथ आत्मविकास के चरम को प्राप्त करता है।

दुर्लभ श्रद्धा को सुलभ बना लें

श्रद्धा को दुर्लभ कहा है इसलिये कि उसको प्राप्त करने के लिये एक साधक अपना सम्पूर्ण सत्पुरुषार्थ नियोजित करने का संकल्प बनावे। किन्तु साहस और संयम के साथ आन्तरिक जीवन को पूर्ण रूप से निर्विकारी बना लिया जाता है तब उस पराक्रमी पुरुष के लिये दुर्लभ श्रद्धा भी सुलभ हो जाती है। क्या आप लोग भी अभिलाषा रखते हैं कि आपके लिये भी यह दुर्लभ श्रद्धा सुलभ हो जाय ?

मैं युवा भाई-बहिनों से यह प्रश्न विशेष रूप से पूछना चाहता हूँ क्योंकि यहाँ पर नई पीढ़ी के लोगों ने प्रश्नोत्तरी कार्यक्रम में विशेष रुचि दिखाई है और तदनुसार प्रश्नोत्तरी का कार्यक्रम रात की बजाय प्रवचन के पश्चात् रखा गया है। बोरीवली (मुम्बई) के चातुर्मास में भी ऐसा ही किया गया था। कहने का अभिप्राय यह है कि भावनापूर्ण श्रद्धा की सम्पत्ति आन्तरिक जीवन के संशोधन एवं उन्नयन से ही हो सकती है। यदि युवा वर्ग इस लक्ष्य को हृदयंगम कर ले एवं उसकी पूर्ति के लिये जुट जाय तो न केवल उस वर्ग का ही उत्थान होगा अपितु सम्पूर्ण समाज एक नये आत्मीय वातावरण से ओत-प्रोत हो उठेगा।

श्रद्धा की प्रगाढ़ता के साथ सच्चे सुख के मार्ग की खोज की जायेगी तो वह सच्चा सुख एक साधक को आत्म-विभोर करेगा और उसका सुप्रभाव सारे समाज और संसार पर भी पड़ेगा।

4

ढानों में श्रेष्ठ अभयढान

वासुपूज्य जिन अन्तर्यामी...

जिन दिव्य पुरुषों ने जनता पर अत्यन्त कृपादृष्टि रखकर जो मार्गदर्शन दिया है, वह मार्ग निःस्वार्थ भावना से उन्हीं के मुखारविन्द से प्रस्फुटित हुआ है। उस मार्ग को अपनाकर जीवन को उसके अनुरूप बनाने, साधना के उच्च स्तरों पर आरूढ़ होने तथा अन्य सभी के जीवन-वृत्तों में सुन्दरता भरने का प्रसंग है। बारहवें तीर्थंकर प्रभु वासुपूज्य की प्रार्थना में यह विशेषण आया है कि 'आप त्रिभुवन के स्वामी हैं।' यह तीन लोक का स्वामित्व क्या है? और तीन लोक कौन से हैं?

यह जो विस्तृत और विशाल भू-लोक है, जिसे मनुष्य नाप नहीं पाता है, इसके तीन भाग हैं—

1. समतल भूमि से नीचे का भाग अधोलोक कहलाता है।
2. जहाँ मुख्य रूप से मनुष्य, तिर्यच आदि निवास करते हैं, वह मध्य लोक है जिसे तिरछा लोक भी कहते हैं।
3. इससे ऊपर का लोक ऊर्ध्वलोक है।

ये तीनों मिलकर ही लोक की संज्ञा पाते हैं। प्रार्थना में ऐसे तीनों लोकों का स्वामित्व प्रभु को समर्पित करके यह जन-जिज्ञासा पैदा कर दी है कि वे तीनों लोकों के स्वामी कैसे बने?

वासुपूज्य भी मनुष्य शरीर में ही उत्पन्न हुए थे और एक राज्य के राजकुमार तथा बाद में उसके स्वामी के रूप में थे। उस समय उनका स्वामित्व तिरछे लोक में भी पूरा नहीं था। अमुक सीमा तक ही उनका राज्य था। फिर उस राज्य का भी उन्होंने आत्म कल्याण के पथ पर अपना चरण रखकर त्याग कर दिया था। तब उनके तीन लोक के स्वामित्व सम्बन्धी इस कथन का क्या अभिप्राय?

तीन लोक का स्वामित्व कहाँ ?

प्रभु वासुपूज्य की एक समतामयी दृष्टि थी। वे अपने परिवार के सदस्यों को भी उसी दृष्टि से देखते थे तो तीनों लोकों में रहने वाले समस्त चराचर जीवों को भी उसी समान दृष्टि से। चराचर जीवों में संसार के समस्त जीवों का समावेश हो जाता है। वे ऐसे समस्त जीवों के सम्पूर्ण परिवार को ही अपना पूरा आत्मीय परिवार समझते थे।

एक हकीकत यह भी समझिये कि इस प्रकार आत्मीयता के सम्पूर्ण विस्तार को जानना और मानना तो आसान है लेकिन उसके अनुसार अपने समग्र व्यवहार को बनाना तथा सभी कार्य सम्पन्न करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, व्यापक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी है। यही महत्त्वपूर्ण कार्य प्रभु ने सम्पादित किया। अपने छोटे और संकीर्ण परिवार की सीमाओं को फैलाकर वे संसार के विशाल परिवार से जुड़ गये। वे साधु धर्म ग्रहण करके कठिन साधना में लग गये। उनकी वह साधना मन, वचन, काया के तीनों योगों में साधना की थी। तब उनकी आत्मीयता समस्त जगत् और जगत् के समग्र जीवों तक विस्तृत बन गई।

आत्मीयता का सर्वत्र विस्तार कैसे होता है—इसे भी समझ लें। प्रभु जब साधना में निमग्न हुए तो उन्होंने चिन्तन किया कि मैंने अपने पूर्व जन्मों में जो पाप कार्य किये, करवाए अथवा उनका अनुमोदन किया, उनके प्रक्षालन के उद्देश्य से ही मैंने तीन करण तीन योग की साधना स्वीकार की है—यह तो मेरे अपने ही हित की दृष्टि से है किन्तु जिस सारे संसार को मैंने अपना परिवार समझा है, मुझे सोचना है कि मैं उसके हित के लिये क्या करूँ? अन्य जन्मों और इस जन्म में भी अब तक मैं इस ओर अपना वांछित ध्यान नहीं लगा पाया हूँ लेकिन अब तो मैं सबको सुख और शान्ति का मार्ग दिखा सकूँ तभी अपने जीवन की सार्थकता मानूँगा। अपनी साधना में उन्होंने इस प्रकार 'स्व' के साथ 'पर' के हित का उद्देश्य भी जोड़ लिया। इसके साथ ही वे सहनशील, करुणाशील और क्षमाशील बन गये। कोई उन्हें कैसा भी कष्ट देता वे समभाव से उसे सह लेते। वे अपनी कामनाओं से ऊपर उठ गये और नवीन कर्मों के बंध का निरोध करते हुए निष्काम भाव से परोपकारी बन गये। उन्होंने शुद्ध परिपूर्ण ज्ञान और उसके साथ समभाव का विकास किया तथा अहिंसा आदि महाव्रतों की आराधना भी उच्चतम भावों के साथ सफल बनाई।

इस प्रकार उन्होंने अपने समुन्नत निजत्व को सम्पूर्ण जगत् तक व्यापक बना दिया यानी कि उनका जीवन सम्पूर्ण जगत् के जीवों के साथ आत्मीयता के रूप में एकरूप बन गया। तब वे स्वयं तीन लोक के बन गये—एक व्यक्ति

साथ न रहे और जब तीन लोक के बन गये तो सारे संसार की दृष्टि उन्हें अपने स्वामी के रूप में देखने लगी। फिर भला कवि भी उन्हें 'तीन लोक के स्वामी' के सिवाय अन्य किस विशेषण से सम्बोधित करता?

तीन लोक के स्वामित्व का आधार—अभयदान

इस प्रकार प्रभु वासुपूज्य अष्ट-सिद्धि, नव निधि आदि समग्र लोक की विपुल ऋद्धियों को त्यागकर तीन लोक के समस्त जीवों के मित्र और हितैषी बन गये। ऐसे दयामय मित्र और हितैषी को भला कौन स्वामी नहीं मानेगा? वे तीन लोक के स्वामी कहलाने लगे। वे परिपूर्ण ज्ञानी और भगवान् हो गये।

किन्तु ऐसा पद उन्होंने कैसे प्राप्त किया? क्यों वे तीन लोक के स्वामी कहलाये? इस पद का आधार क्या था?

एक शब्द में इसका उत्तर दिया जायेगा तो वह होगा—अभयदान। उन्होंने अपने मन, वचन एवं कर्म से संसार के समस्त जीवों को अपनी ओर से अभयदान प्रदान किया। सूयगडांग सूत्र के छठे अध्ययन में कहा गया है कि—

‘दाणाण सेठं अभयपयाणं’

अर्थात् सभी प्रकार के दानों में अभय प्रदान करना श्रेष्ठ दान कहलाता है। जो मन, वचन एवं काया के योगों से हिंसा से विरत होने का प्रण करते हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा का संकल्प लेते हैं, वे अपनी आन्तरिकता में अभयदान का सफल बीजारोपण कर देते हैं। सकल सावद्य योगों का त्याग करके वे स्वयं अभय बनते हैं और समस्त प्राणियों को अभयदान देते हैं। जब तीर्थकर दीक्षा लेते हैं, उस समय वे सिद्ध भगवन्तों को वन्दन करते हैं। पूर्व के तीर्थकरों के पास वे नहीं जाते और न ही उनके द्वारा उपदेशित शास्त्रों को वे पढ़ते हैं। अपनी माता की कुक्षि में ही उन्हें तीन ज्ञान प्राप्त होते हैं—मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान तथा अवधिज्ञान। पांचों इन्द्रियों और मन के स्वरूप तथा उनके क्रियाकलापों को जानना व परखना मतिज्ञान कहलाता है और उनको विशेष रूप से जानना श्रुतिज्ञान। दूरस्थ पदार्थों को जानना-देखना अवधिज्ञान होता है।

तीर्थकर देवों की प्रारंभिक भावना ही सिद्ध पद प्राप्त करने की होती है तथा भावना का बड़ा महत्त्व होता है। भावना से ही पाप कर्म बंधते हैं तो भावना से ही वे छूटते हैं। भावना बनाने की भी अपनी भावना होनी चाहिये कि वह शुभत्व की ओर गतिशील बने। आप कभी अपनी भावना बनाइये ताकि अपनी ही भावना की जांच-परख कर सकें। उससे यदि आपको प्रतीत हो कि आप सब प्राणियों ('किन्ही' को छोड़कर भी) को कष्ट पहुँचाने की कोई भावना नहीं

रखते हैं तो उसी समय वैसा त्याग आपको ग्रहण कर लेना चाहिये। इसी त्याग को यह व्रत कह लीजिये कि आप सभी प्राणियों को अभयदान देने वाले व्रती बन गये हैं।

जब किसी को कष्ट देने की भावना ही नहीं रहेगी तो कर्म बंधन क्यों होगा और क्यों पापी कहलायेंगे? यह चिन्तन करने का विषय है कि जब मन में किसी को मारने की भावना ही नहीं थी तो उन्होंने सभी सावद्य योगों का त्याग करके साधु धर्म क्यों ग्रहण किया? इसका कारण यही था कि जब भावना में परिपक्वता आ जाये तो उस समय इस प्रकार का त्याग कर लेना चाहिये। संकल्प की सुदृढ़ता और कार्यान्वितता तभी बनती है जब भावना की परिपक्वता एवं पुष्टता हो। ऐसे भावनापूर्ण त्याग के साथ साधना को पूर्णरूपेण बल मिल जाता है।

भय और अभय की स्थितियाँ

भय और अभय के सम्बन्ध में इस मन की तीन प्रकार की स्थितियाँ हो सकती हैं—

1. ज्यों ही भावना पक्की बनी कि अमुक को या अधिक को मारने या कष्ट देने की मेरी कोई भावना नहीं है तभी इस प्रकार का त्याग ले लिया जाय जिससे वह भावना एक व्रत में ढल जाती है और वह व्रत जीवन का अंग बन जाता है। जब यह भावना बन जाय कि इस संसार में किसी भी प्राणी को नहीं मारना या किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना तो पूर्व पुरुषों के आदर्श उदाहरणों के समान ही सभी सावद्य योगों का त्याग करके पूर्ण अहिंसा व्रती यानी कि साधु बन जाना चाहिये।
2. दूसरी मानसिक स्थिति यह हो सकती है कि अमुक को या सबको न मारने और कष्ट नहीं देने की भावना तो बनी और जब वह बनी तब उसमें परिपक्वता भी थी लेकिन तदनुसार त्याग नहीं किया यह सोचकर कि भावना पक्की है तो त्याग की क्या जरूरत है। किन्तु मन तो चंचल होता है। कई बार उसे स्थिर रखने का पूरा प्रयास होते हुए भी वह फिसल जाता है। ऐसी अवस्था में त्याग नहीं करने के कारण व्रत का बंधन नहीं होने से वही मन अहिंसा से फिसल कर फिर से हिंसा में लिप्त हो सकता है।
3. तीसरी स्थिति तो एक हिंसक की होती ही है जो अपने आतंक से सबको भयभीत करना चाहता है और अपने पाप कर्म की जघन्यता को

समझता भी नहीं अर्थात् हिंसा त्याग की उसकी वैसी भावना ही नहीं बनती है।

इस प्रकार एक विचारशील पुरुष अहिंसक बनकर वैसा त्याग लेकर सबको अभयदान देने वाला बन जाता है जबकि एक हिंसक सबको भयभीत करता रहता है। किन्तु उस मन की स्थिति पर तरस आता है जो कि अहिंसा के निर्वैर और निर्भय स्वरूप को पकड़ता भी है किन्तु वैसा व्रत धारण न करने की बुद्धिहीनता या प्रमाद से अपनी भावना के प्राप्त शुभत्व को भी खो देता है। ऐसी खुली मनःस्थिति ही घातक मानी गई है। ज्ञानियों की दृष्टि में मन, वचन एवं काया रूप ये तीनों माध्यम जब तक व्रती नहीं बने हैं और खुले हैं तब तक तीनों शस्त्र रूप माने जायेंगे। इन तीनों को वैसी दशा में नंगी तलवारों की संज्ञा दी जा सकती है। यह एक तथ्य है कि नंगी तलवार को किसी के हाथ में देखकर हर कोई त्रस्त और भयभीत होगा—उसे उसकी तरफ से अभयदान नहीं मिलेगा।

अभयदान छहों काया के जीवों को

मन, वचन और काया की नंगी तलवारें चाहे वार न भी करें तब भी देखने वाला उनसे अवश्य भयभीत होता है क्योंकि उनका वार बड़ा तीक्ष्ण माना गया है। एक के हाथ में नंगी तलवार हो और वह वार नहीं करेगा—ऐसा सामान्य रूप से विश्वास नहीं होता है अतः उसका भयातंक तो रहता ही है। यह तो निश्चय है कि उसके हाथ में रहते सामने वाला अभय तो रह ही नहीं सकता है चाहे नंगी तलवार वाला घोषणा भी कर दे कि वह किसी पर वार नहीं करेगा। सब को अभयदान तभी मिल सकता है जबकि वह अपनी नंगी तलवार को म्यान में रखकर अपने से अलग कर ले।

इस कारण अहिंसा वृत्ति की भावना बन जाने के साथ ही जो तदनुसार त्याग नहीं करता है—प्रतिज्ञा नहीं लेता है, वह इस रूप में रहता है जैसे कि तीनों नंगी तलवारों उसने अपने हाथों में ले रखी हो। वे तलवारों किस समय किस पर चल पड़ें—इसका कोई विश्वास नहीं रहता इसलिये इन योगों को पापकारी ही कहा जाता है।

सावद्य योगों का त्याग करने के लिये वीतराग देवों ने विधि बताई है और वह विधि उन्होंने अपने व्यावहारिक आदर्श से बताई। तीर्थंकर देव स्वयं भावना की परिपक्वता एवं पुष्टता के साथ सभी सावद्य योगों का त्याग करके साधु धर्म अंगीकार करते हैं और छहों काया के जीवों को अपनी आत्मा के तुल्य मानकर अभयदान देते हैं कि संसार के समस्त प्राणी निर्भय और अभय बनें।

किसी एक प्राणी का, कई प्राणियों का या सभी प्राणियों का अपनी ओर से भय निवारण एक त्यागमय शुभ कार्य माना गया है। भय निवारण का यही अर्थ होगा कि आप उतने अंशों में हिंसा का त्याग करके अहिंसाव्रती बन गये हैं जबकि एक साधु अहिंसा का महाव्रती बन कर समस्त प्राणियों को अभयदान देने के उच्च स्तर तक पहुँच जाता है। रात्रि के प्रश्नोत्तर के प्रसंग से आये हुए कुछ प्रश्नों का, जो इस विषय से सम्बन्ध रखते थे, यहाँ पर स्पष्टीकरण कर रहा हूँ। एक पुरुष हाथ में नंगी तलवार लेकर एक निहत्थे जन समुदाय के सामने पहुँचा। उस समय उसका चेहरा भी खूँखार बना हुआ था। उसे देखकर (उसके बिना बोले ही नंगी तलवार हाथ में देखकर) वह समुदाय भयभीत हो गया। क्यों? कारण, यह विश्वास नहीं था कि वह क्रूर हिंसा के कुप्रभाव से किस समय किस पर तलवार का वार कर बैठे। उस समय उस समुदाय के सभी व्यक्ति भयभीत होकर उसके प्रति बुरी भावना बना लेंगे। भले ही उस खूँखार पुरुष की भावना किसी को मारने की न हो तब भी वह नंगी तलवार खुद भय का कारण होती है। माना यह जायेगा कि तलवार म्यान से बाहर ही तब निकाली जायेगी जब किसी प्रकार की क्रूर हिंसा के विचार मन को घेर लेंगे। अब इस रूपक को आगे समझिये कि नंगी तलवार हाथ में लिये उस पुरुष ने उस जन समुदाय के सामने यह कहा कि वह उनमें से सिर्फ एक व्यक्ति को मारेगा। तब भी पूरा समुदाय भयभीत रहेगा—यह न जानते हुए कि वह व्यक्ति कौन है। फिर वह कहता है कि अमुक देश के व्यक्ति को मारेगा। तब उस देशवासी से अन्य सभी व्यक्ति अभय बन जायेंगे। फिर वह उस देश के एक नगर का नाम लेता है कि वहाँ के एक व्यक्ति को मारेगा। तब उस नगर के सिवाय उस देश के अन्य सभी व्यक्ति अभय हो जायेंगे। अंत में वह कह देता है कि उस नगर के अमुक व्यक्ति को वह मारेगा, तब उस पूरे समुदाय में सिर्फ कथित व्यक्ति के अलावा सभी अभय हो जायेंगे।

अब बताइये कि नंगी तलवार का भय कितने लोगों से शुरू हुआ और अपना इरादा साफ करते रहने से केवल एक व्यक्ति के लिये ही तलवार का भय तब भय रूप में रह गया। शेष सभी अभय हो गये। किन्तु तभी उसने आगे बढ़कर घोषणा कर दी कि वह उस कथित व्यक्ति को भी नहीं मारेगा। ऐसा कहकर उसने तलवार म्यान में रख दी। तब सभी अभय हो गये।

मन, वचन और काया की तलवारें उन्हें काम में न लेने की भावना के बावजूद जब तक नंगी रहेंगी, सभी प्राणी भयभीत रहेंगे और सबकी नंगी तलवार वाले के लिये बुरी भावना होगी। उपर्युक्त रूपक में ज्यों-ज्यों वह अपने

इरादे को साफ करता गया त्यों-त्यों अभय का वातावरण बनता गया। इसी क्रम को व्रत ग्रहण करने की रोशनी में देखिये। ज्यों-ज्यों और जितनों के प्रति अपनी हिंसक भावना छूटती जाय, त्यों-त्यों उतनों के प्रति यदि अहिंसा और अभयदान का व्रत ग्रहण किया जाता रहे तो यह समझिये कि उसकी नंगी तलवारें उस रूप में म्यान में चली जा रही हैं। भावना बने और व्रत न लिया जाय तो वह स्थिति न अपने हित में रहती है और न दूसरों के हित में। कारण, बाहर से नंगी दिखाई देने वाली तलवारें संसार के सारे प्राणियों को भयग्रस्त बनाती रहती हैं। चाहे उनका वार किया जाय अथवा नहीं। इसलिये नंगी तलवारों को म्यान में डालना यानी कि अहिंसा व्रत से अपने मन को बांधना अनिवार्य है।

अभयदान से समभाव की ओर

दुःखों से भयभीत जीवों को भयरहित करना ही सच्चा अभयदान है। सभी दानों में अभयदान को परम श्रेष्ठ कहा गया है। इसकी परम श्रेष्ठता तब प्रकट होती है जब छहों काया के समस्त सांसारिक प्राणियों को अपनी ओर से अभयदान दे दिया जाता है। ऐसा ही अभयदान तब आत्म-भावों को सबके प्रति समभाव की दिशा में प्रेरित करता है।

वासुपूज्य भगवान् ने समग्र विश्व के प्राणियों को अभयदान देने की सद्भावना से तीन करण तीन योग की प्रतिज्ञा लेकर अपनी उन तलवारों को व्रत की म्यान में बंद कर दिया। तत्पश्चात् जब लोगों ने उनका अपमान किया, उन्हें कष्ट दिया तब उन्होंने उस अपमान और कष्ट को समभाव के साथ सहन किया। किसी भी प्राणी के प्रति कष्ट देने की भावना उनकी नहीं रही।

इसलिये आज गहराई से विचार करने का समय है कि जो व्रत नहीं ले रहे हैं, वे प्राणियों को भयभीत कर रहे हैं और प्राणियों को भयभीत कर रहे हैं तो वे समभाव की मनःस्थिति से बहुत दूर माने जायेंगे। इसका कारण है कि उन्होंने मन, वचन, काया की नंगी तलवारें अपने हाथों में पकड़ रखी है। किन्तु सन्त यावज्जीवन सारे सावद्य योग व्यापार का त्याग करके चलते हैं कि हमारे निमित्त से मन से, वचन से, काया से किसी को भी किसी रूप में भय न हो। सन्तों का यह प्रतिज्ञा-व्रत होता है। वे साधु धर्म ग्रहण करके यह सुनिश्चित संकल्प लेते हैं कि जगत् के किसी भी प्राणी को तीन करण तीन योग से नहीं मारेंगे और न ही कष्ट पहुँचायेंगे। रजोहरण उनके पास रहता है जिस से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि वे समभावपूर्वक सभी प्राणियों की रक्षा करेंगे। ध्यान रखिये कि तलवार

पूरी तरह से म्यान में डाल देने पर रजोहरण हाथ में आ जाता है— जीव हत्या से दूर हटकर जीव रक्षा और जीव दया का इस परिवर्तित जीवन में नया अध्याय शुरू हो जाता है। सन्त इसी कारण दिन को देखकर और रात को रजोहरण से पूंज कर चलते हैं ताकि किसी प्राणी को हिंसा भरा आघात न पहुँचे। चींटी तो दूर रही, अनाज के दाने का छोटा सा जीव भी उनसे पीड़ित न हो— इसका वे हर समय पूरी सतर्कता से ध्यान रखते हैं। यही आशय है कि वे रात में विहार करके एक गांव से दूसरे गांव नहीं जाते, लेकिन शारीरिक बाधा निवृत्ति के लिये अथवा ज्ञान चर्चा हेतु एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना पड़े तो रात्रि में पूंज कर ही चलते हैं। सन्त जन मुख पर मुखवस्त्रिका भी बांधते हैं जिसका भी यही लक्ष्य है कि वायुकाया के सूक्ष्म जीवाणु भी मुंह की गरम हवा या बोलने के कम्पन के कारण संत्रस्त न बनें। वायु काया की रक्षा के लिये मारने की भावना नहीं होते हुए भी सावद्य भाषा को टालने के लिये मुखवस्त्रिका का स्थायी रूप से उपयोग किया जाता है। छः काया के जीवों की रक्षा के ही उद्देश्य से सन्त जन रेल, तांगा, हवाई जहाज, कार आदि किसी भी वाहन का प्रयोग न करके केवल पद-यात्राएं ही करते हैं। कारण, किसी भी वाहन के द्वारा जीव हत्या की आशंका बनी रहती है।

किसी भी प्रकार की हिंसापूर्ण भावना न रखना, सर्व जीवों को अभयदान प्रदान करना तथा जीवों की रक्षा एवं दया हेतु सदैव व सर्वत्र तत्पर बने रहना यही समभाव की प्रतीक मनःस्थिति होती है।

गृहस्थ जीवन और अभयदान

परिपूर्ण ज्ञानियों ने बतलाया है कि साधु जीवन को अंगीकार करने की संसार के सभी जीवों की क्षमता नहीं होती है अतः उनके लिये उन्होंने निर्देश दिया है कि वे गृहस्थावस्था में रहते हुए भी यथाशक्य अधिकाधिक अभयदान प्रदान करने का उपक्रम करें। यों भी दस-पंद्रह, पचीस मंजिला भवन बनाने का इरादा हो तब भी उसका नींव से ही निर्माण आरम्भ करना पड़ेगा। गृहस्थ जीवन को इस नींव के निर्माण से नीतिपूर्वक संचालित किया जा सकता है। इस कारण गृहस्थों को निराश होने की आवश्यकता नहीं है—वे अपने बहुमंजिला भवन का शिलान्यास करके नींव व नीचे का निर्माण पूरा कर सकते हैं। स्थायी रूप से मन, वचन एवं काया के सावद्य योग व्यापार की तलवारों म्यान में न डाल सकें तो समय-समय पर कुछ समय के लिये तो उन्हें म्यान में डालते रहने का अभ्यास बनावें।

आप लोग परिवार के निर्वाह की दृष्टि से व्यापार, नौकरी या अन्य कोई

धंधा करते हैं—खेती भी करते हैं। सब धंधों में कहीं न कहीं जीव हिंसा के अवसर आते रहते हैं—कई बार वह हिंसा प्रकट रूप में नहीं भी दिखाई देती है, विवेकशील पुरुष उस हिंसा को महसूस कर लेता है और विवशतापूर्वक उतनी हिंसा खुली रख लेता है किन्तु बाकी सारी हिंसा का वह समझपूर्वक त्याग कर लेता है। वह अहिंसा व्रत को धारण करने वाला विवेकशील गृहस्थ यही भावना रखता है कि मैं जीवित रहूँ और मेरे परिवार जन, पड़ोसी आदि अन्य सब भी जीवित रहें, उस दृष्टि से सावद्य योग व्यापार पर एकदेशीय नियंत्रण ही रख लूँ। जीओ और जीने दो की व्यावहारिक भावना रखते हुए भी एक गृहस्थ अभयदान के क्षेत्र में अपनी उल्लेखनीय सेवाएं दे सकता है।

इस एकदेशीय त्याग का यह अर्थ लिया जाय कि गृहस्थ को जीवन के निर्वाह में विवशता से हिंसा की अनिवार्य क्रिया करनी पड़े वह तो छूट है लेकिन व्यर्थ के हिंसापूर्ण कार्यों के पाप से तो सावधानीपूर्वक बचा ही जाय। ऐसा व्रत ग्रहण कर लेने के बाद वह गृहस्थ कभी भी आक्रान्ता नहीं बनेगा क्योंकि उसकी दृष्टि सदैव आध्यात्मिकता की ओर रहेगी। इतना ही नहीं, एकदेशीय व्रती गृहस्थ दूसरों से भी यथासाध्य हिंसा छुड़वाने की कोशिश में लगा रहेगा। नीतिपूर्वक व्यवहार करते हुए भी यदि सामने वाला हिंसा पर उतरता है तो यथावसर वह गृहस्थ उसे दण्ड देने को भी स्वतंत्र है क्योंकि आत्मरक्षा के लिये मजबूर होकर वह हिंसा का प्रयोग करने को स्वतंत्र है। उसका उसे त्याग नहीं होता है। केवल आक्रान्ता की दुर्नीति को हटाने के लिए वह आगे बढ़ता है—उसको मारने की उसकी भावना नहीं रहती। गृहस्थ अवस्था में रहते हुए दण्ड नीति खुली रहती है। इस तरह एक गृहस्थ प्रथम अहिंसा व्रत की प्रतिज्ञा लेकर एकदेशीय रूप से मन, वचन, काया की सावद्य योग रूप तलवारों को म्यान में रखकर चलता है तथा इस रूप में वह संसार के प्राणियों को अभयदान प्रदान करता है।

अभयदानी अहिंसा व्रत

अभयदान का प्रसार करने वाले प्रथम अहिंसा व्रत की संक्षिप्त परिभाषा यह है कि निरपराध त्रस जीवों को संकल्प करके नहीं मारना। अब आप सोचिये कि क्या एक गृहस्थ इतना सा व्रत भी नहीं ले सकता है? गृहस्थाश्रम के निर्वाह में इससे कहाँ बाधा आती है? स्पष्टता के लिये चेड़ाकोणिक का प्रसंग शास्त्रों में है। चेड़ा महाराज अठारह गणराज्यों के अध्यक्ष थे तो भगवान् महावीर के देशव्रती श्रावक भी थे। संसार के सभी प्राणियों की शान्ति कामना रखते हुए भी अपराधी को दंड देने के लिये वे स्वतंत्र थे। और दंड भी कैसा दिया उन्होंने कि

अन्याय का प्रतिकार करने के लिये कोणिक के साथ पूरा युद्ध लड़ा—रक्तपात किया फिर भी उनका श्रावक व्रत अक्षुण्ण रहा। रामायण भी ऐसे प्रसंगों से भरी पड़ी है जब गृहस्थाश्रम में रहते हुए अन्याय और अनीति का हिंसा की विधि से विरोध करना पड़ा।

भावना और विवशता के इस अन्तर को भी समझ लेना चाहिये। एक श्रावक की भावना सदैव यही रहनी चाहिये कि वह संसार के किसी भी प्राणी के प्रति हिंसात्मक क्रिया न करे तथा सबकी सुख शान्ति की सदा कामना रखे। इस कामना को रखते हुए अन्याय या अनीति के विरोध के लिये अथवा गृहस्थ धर्म का अनुपालन करने के लिये या आत्मरक्षा में अपराधियों के प्रति विवशतापूर्वक ही वह हिंसा का सेवन करे। इसका अभिप्राय यह है कि हिंसा का विवशता से सेवन करते हुए भी सर्व-हितकारी एवं सर्वकल्याणकारी भावना उसके हृदय में बनी रहे। यही नहीं, उस विवश हिंसा के लिये उसके मन में ग्लानि और प्रायश्चित्त भी पैदा हो। हिंसा का वह प्रयोग उसकी भावना को किसी भी रूप में विकृत न बनावे।

अभयदान के मार्ग पर गति तो शुरू करें

आज के युग में प्रत्येक विवेकशील गृहस्थ को इस पहले अहिंसा अणुव्रत की पालना करने में कोई रुकावट नहीं होती हो तो इसे ग्रहण कर लेना चाहिये ताकि अभयदान के मार्ग पर गति तो शुरू हो सके। यह गति जब निष्ठापूर्वक शुरू हो जायेगी तो एक दिन अहिंसा महाव्रत धारण करके पूर्ण अभयदानी भी हो सकेंगे तो त्रिभुवन के स्वामी भी बन सकेंगे।

इसलिये समझ लें कि त्याग और प्रत्याख्यान का अमित महत्त्व है। इनके बिना भावना ही कई बार मूल्यहीन हो जाती है, लेकिन भावना को व्रत प्रत्याख्यान से बांध लें तो वह स्थायी बनकर अभयदान का सुदृढ़ स्तम्भ बन जाती है। प्रथम व्रत को स्वीकार करने का सुफल यह होगा कि हिंसा सम्बन्धी समुद्र का जितना पाप आपको लगता था तो वह घड़े के पानी जितनी सीमा में सिमट जायेगा। अतः चिन्तन करें।

5

सूक्ष्म जीव-रक्षा

वासुपूज्य जिन अन्तर्यामी...

इस चराचर जगत् में विभिन्न और विचित्र दशाएं दृष्टिगत हो रही हैं। यह विभिन्नता और विचित्रता, दृश्य जीवों में भी दिखाई देती है तो सूक्ष्म जीवों में भी। इन सबके भीतर जो तत्त्व है, वह सभी प्रकार से श्रेष्ठ और उत्तम है। इस तत्त्व की श्रेष्ठता और उत्तमता ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की पवित्रता एवं अनन्त शक्ति में सन्निहित है। यह तत्त्व यद्यपि इन चर्म चक्षुओं से दृश्यमान नहीं है फिर भी इसका अस्तित्व प्रतिपल अनुभव में आता है। इन आंखों से साकार रूप में देखा जा सके—वही तत्त्व या पदार्थ हो—ऐसी बात नहीं है। ऐसे गहन तत्त्व और सूक्ष्म पदार्थ अनेकानेक हैं, जिन्हें केवल ज्ञानी जन अपने ज्ञान चक्षुओं से स्पष्ट देखते और अनुभव करते हैं।

सूक्ष्मता से भरा पड़ा है संसार

इस संसार में सूक्ष्म तत्त्व और पदार्थ भरे पड़े हैं। उनके विषय में दृष्टि की स्पष्टता का न होना मानव के अपूर्ण ज्ञान का ही सूचक होता है। अपेक्षा दृष्टि से भले ही आकाश खाली दिखाई देता हो, फिर भी उसमें सूक्ष्म तत्त्वों की भरमार रहती है।

आप इस लम्बे-चौड़े हॉल में बैठे हुए हैं और समझते हैं कि इसका अधिकांश ऊपर का हिस्सा खाली दिखाई देता है, लेकिन हकीकत में यह हिस्सा खाली नहीं है। इसमें सूक्ष्म तत्त्व और पदार्थ ठसाठस भरे पड़े हैं। अदृश्य परमाणु भी इसमें भरे हुए हैं। वायु तत्त्व से भी यह भरा हुआ है। इस खाली हिस्से में ही क्या, सर्वत्र ऊँची-नीची रिक्तता में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय लबालब भरी हुई है। रिक्ताकाश में कर्मवर्गणा के सूक्ष्म स्कंध भी फैले हुए रहते हैं। इन सब के अतिरिक्त हमारी आत्माओं के तुल्य ही सूक्ष्म

जीवाणुओं की आत्माएं भी ठसाठस भरी हुई हैं। हमारी आत्माओं और इन सूक्ष्म जीवाणुओं की आत्माओं में अन्तर इतना ही है कि हमारे शरीर सूक्ष्म और अदृश्य हैं। ऐसी सूक्ष्म शरीरी जीवात्माएं इसी आकाश में रहती हैं, किन्तु इनके रहने से स्थूल शरीरी आत्माओं को कोई बाधा नहीं होती है।

न दिखने वाली वस्तुओं की बात फिर करेंगे, लेकिन दिखने वाली वस्तुओं में एकरूपता दृष्टिगत नहीं होती है। इन सभी तर्खों में भी आप स्पष्ट अन्तर देख रहे हैं। ये सभी खिड़कियाँ एक सी लगती हैं लेकिन फिर भी अन्तर है। आप सब की पोशाकें भी भिन्न-भिन्न दिखाई दे रही हैं। मनुष्यों की आकृतियाँ समान-सी दिखाई देने पर भी प्रत्येक आकृति में अपनी विभिन्नता होती ही है।

इस प्रकार इन विविध और विचित्र रूपों को दो भागों में विभाजित कर देना चाहिये। एक विभाग तो ऐसा हो जिसमें वे पदार्थ सम्मिलित किये जायं जो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। जो बढ़ते भी नहीं, ग्रहण भी नहीं करते और न स्वयं चलते हैं या आगे-पीछे होते हैं। कितना भी कुछ संयोग जुटाया जाये उन्हें सुरक्षित रखने का, लेकिन एक रोज वे बिखर जाते हैं। दूसरे विभाग में उन तत्त्वों को सम्मिलित किया जा सकता है जो प्रारंभ में छोटे रहते हैं और बाद में धीरे-धीरे विकसित हो जाते हैं। वे स्वयं चलते हैं, डोलते-फिरते हैं और सारा हलन-चलन करते हैं। इन दोनों प्रकार के तत्त्वों में अन्तर क्या है?

चेतन और जड़ तत्त्वों का अन्तर

जो तत्त्व पहले छोटे होते हैं और फिर बढ़ते हैं, उन्हें अपने इस विकास में खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। खाद्य पदार्थ, जल आदि ग्रहण करने वाले तत्त्व बढ़ते हैं। जीवन चलने के सभी अनिवार्य पदार्थ यदि उनके लिये उपलब्ध न हो तो बढ़ने में बाधाएं भी आ सकती हैं। उदाहरणार्थ, एक बच्चा जन्म लेता है। आप जानते हैं कि वह कब बढ़ता है? तभी न, जब उसे उसके लिये आवश्यक खाद्य-पदार्थ, दूध, जल आदि उपलब्ध हों। इनमें से सभी या कुछ भी नहीं मिले तो क्या उसकी बढ़ोतरी में बाधा नहीं पड़ जायेगी? सब-से पहले तो उसे अपनी मां के दूध की ही जरूरत पड़ती है और ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है, उसे अन्य आवश्यक पदार्थों की भी अपेक्षा होती रहती है। वह शरीर बढ़ता रहता है और उसके साथ ही उसमें प्रतिरोधक शक्ति भी बढ़ती रहती है। बढ़ते हुए बच्चे के शरीर में चाकू आदि से यदि कोई घाव हो जाता है तो क्या वह वैसा ही रहता है? नहीं, धीरे-धीरे वह घाव भर जाता है। किसी ऑपरेशन का बड़ा घाव हो तो वह भी यथासमय भर जाता है। तो आप समझिये कि ऐसी प्रक्रियाएँ जिन तत्त्वों में

होती हैं, वे तत्त्व चैतन्य होते हैं। यह चेतना शक्ति ही आत्म तत्त्व है। जीव और आत्मा एक ही बात है।

इसके विपरीत जिन तत्त्वों में इस प्रकार की प्रक्रियाएँ घटित नहीं होती हैं, वे तत्त्व जड़ कहलाते हैं, जिनमें आत्म-तत्त्व का अस्तित्व नहीं होता—जीव की उपस्थिति नहीं होती, वे निर्जीव होते हैं। जैसे— यह तख्ता, पाटिया आदि। यदि इन पर कोई खाद्य सामग्री रखी जाय तो क्या ये उसे खायेंगे? नहीं खायेंगे। कितना अन्तर हो गया? यह दिखाई देने वाला हमारा और आपका शरीर आत्म तत्त्व से संयुक्त न होकर यदि इस तख्ते और पाटिये की तरह जड़ तत्त्व होता तो क्या इसको भी खाना खाने की जरूरत होती? क्या यह हिलता-डुलता और बोलता? पाटिये पर अगर चाकू का कोई चीरा लगा दिया जाय तो क्या वह कुछ दिनों में भर जाता है या वह वैसा का वैसा ही रहता है? वह चीरा वैसा का वैसा ही रहता है क्योंकि वह एक निर्जीव पदार्थ है।

जीव तत्त्व के अस्तित्व के बिना जीवन के लक्षण नहीं दिखाई देते हैं। जैसे पाटिये पर लगा चाकू का चीरा अपने आप नहीं भरता, वैसे ही मनुष्य के मुर्दा शरीर पर भी लगा हुआ घाव स्वतः नहीं भरता है। मनुष्य शरीर में भी जब तक जीवात्मा का निवास रहता है तभी तक उसमें जीवन के लक्षण विद्यमान रहते हैं। जीवात्मा के निकलते ही वह शरीर भी जड़ रूप हो जाता है। जीव निकलने से पहले यदि कोई उसे जड़ कहता है तो उससे वचन में दोष लगता है।

चेतन और जड़ तत्त्वों के अन्तर को आप संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि जीवधारी के शरीर को बढ़ने के लिये खाद्य पदार्थ आदि चाहिये। उसमें घाव वगैरह लग जाने पर स्वतः तन्दुरुस्त होने की क्षमता रहती है। किन्तु ये ही बातें जड़ तत्त्व पाटिये में नहीं होती। इस जीवन के लक्षणों को आप सब भलीभांति समझते हैं।

सूक्ष्म जीवात्माओं का स्वरूप

जैसा बताया जा चुका है कि जिसमें ज्ञान, दर्शन, रूप उपयोग हो, वह जीव द्रव्य कहलाता है। षट् द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल द्रव्य अजीव हैं, जड़ हैं। एक यही जीव द्रव्य चेतनायुक्त और उपादेय होता है।

जीव द्रव्य के तीन भेद बताये गये हैं—

1. संयत—वे जीव जो सर्व सावद्य व्यापार से निवृत्त हो गये हैं, संयत जीव कहलाते हैं। ऐसे छठे से चौदहवें गुणस्थानवर्ती और सामायिक आदि संयम वाले साधु को संयत कहते हैं।

2. असंयत—पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान वाले अविरति जीवों को असंयत कहा गया है।
3. संयतासंयत—जो जीव कुछ अंशों में तो विरति का सेवन करते हैं और कुछ अंशों में नहीं करते हैं ऐसे देशविरति को अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को संयतासंयत कहते हैं।

इस सम्पूर्ण जीव द्रव्य को निकाय की दृष्टि से छः काय रूप माना है। निकाय शब्द का अर्थ होता है राशि। जीवों की राशि को जीव निकाय कहते हैं। शरीर नाम कार्य के उदय से होने वाली औदारिक और वैक्रिय पुद्गलों की रचना और वृद्धि को काय कहते हैं। काय के भेद से ही जीव छः प्रकार के माने गये हैं।

1. पृथ्वीकाय—जिन जीवों का शरीर पृथ्वी रूप होता है, उन्हें पृथ्वीकाय कहा गया है।
2. अप्काय—जिन जीवों का शरीर जल रूप है, वे अप्काय कहलाते हैं।
3. तेजस्काय—जिन जीवों का शरीर अग्नि रूप होता है, उन्हें तेजस्काय कहा है।
4. वायुकाय—जिन जीवों का शरीर वायु रूप है, वे जीव वायुकाय के होते हैं।
5. वनस्पतिकाय—वनस्पति रूप शरीर को धारण करने वाले जीव वनस्पतिकाय कहलाते हैं।

ये पांचों ही स्थावर काय कहलाते हैं। इनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। ये शरीर, जीवों को स्थावर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं।

6. त्रसकाय—त्रस नाम कर्म के उदय से चलने-फिरने योग्य शरीर द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रसकाय कहलाते हैं।

सभी स्थावरकाय शरीर धारी सूक्ष्म जीवात्मा होती हैं किन्तु त्रसकाय में भी छः प्रकार के जीवों को क्षुद्रप्राणी माना गया है, जो त्रस में उत्पन्न होने पर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं अथवा देव जन्म में उत्पन्न नहीं होते हैं। इन के छः भेद इस प्रकार हैं—

1. बेइन्द्रिय—मात्र स्पर्शन और रसना (जीभ) की दो इन्द्रियों को धारण करने वाले जीव।
2. तेइन्द्रिय—स्पर्शन, रसना और घ्राण (नाक) तीन इन्द्रियों वाले जीव।
3. चौरिन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु (आंख) की चार इन्द्रियों वाले जीव।

4. सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच- पांचों इन्द्रियों वाले किन्तु मनरहित असंज्ञी तिर्यच जीव।
5. तेउकाय- अग्नि के जीव।
6. वायुकाय- हवा के जीव।

बिना दूसरे की सहायता के हलन-चलन क्रिया वाले होने से ठाणांग 6 सूत्र 513 में अग्नि और वायु के जीवों को भी त्रस बतलाया गया है।

सूक्ष्म जीवों का विस्तृत क्षेत्र

सूक्ष्म जीवों का बहुत ही विस्तृत क्षेत्र है। इनके तुलनात्मक विवरण को अल्प-बहुत्व शब्द से अंकित किया जाता है जो इस प्रकार है- 1. सबसे थोड़े त्रसकाय के जीव हैं। 2. इनसे तेजस्काय के जीव असंख्यात गुणे अधिक हैं। 3. पृथ्वीकाय के जीव तेजस्काय के जीवों से विशेष अधिक हैं। 4. अप्काय के जीव पृथ्वीकाय के जीवों से विशेषाधिक हैं। 5. वायुकाय के जीव अप्काय के जीवों से विशेषाधिक हैं। 6. वनस्पतिकाय के जीव सभी जीवराशियों से अनन्त गुणे हैं।

इन सूक्ष्म जीवों की जो विभिन्न श्रेणियाँ बताई गई हैं, उनसे इनका स्वरूप, इनकी सूक्ष्मता स्पष्ट होती है। काठिन्य आदि गुणों वाले पदार्थ रूप पृथ्वी के छः भेद हैं- 1. श्लक्ष्ण पृथ्वी-पत्थर के चूरे सरीखी धरती। 2. शुद्ध पृथ्वी-पर्वत आदि के बीच में होने वाली शुद्ध मिट्टी। 3. मनःशिला पृथ्वी-लाल वर्ण की एक उपधातु जो दवाइयों में काम आती है और जिसे मेनसिल भी कहा जाता है। 4. बालुका पृथ्वी-रजकण या बालू रेत। 5. शर्करा पृथ्वी-कंकरीली जमीन। एवं 6. खर पृथ्वी-पथरीली जमीन।

इसी स्वरूप-सूक्ष्मता को समझने के लिए वनस्पतिकाय की भी संक्षेप में चर्चा कर लें। इस काय के तीन भेद किये गये हैं- 1. संख्यात जीविक-जिस वनस्पति में संख्यात जीव हो, उसे संख्यात जीविक वनस्पति कहते हैं जैसे नालि से लगा हुआ फूल। 2. असंख्यात जीविक-इस प्रकार की वनस्पति में असंख्यात जीव होते हैं जैसे नीम, आम आदि के मूल, कन्द, स्कंध, छाल, शाखा, अंकुर वगैरह। 3. अनन्त जीविक-जिस वनस्पति में अनन्त जीव हों उसे अनन्त जीविक वनस्पति कहते हैं जैसे जमीकंद, आलू आदि।

इसके साथ ही यह भी समझ लें कि स्थूल शरीर वाले (जो कि अति सूक्ष्म से ही स्थूल होते हैं-यों सूक्ष्म ही हैं) वनस्पति काय के जीवों को बादर वनस्पतिकाय कहते हैं। इनके भी छः भेद बताये गये हैं- 1. अग्रबीज-इस

वनस्पति का अग्रभाग बीज रूप होता है, जैसे कोरंटक आदि अथवा इस वनस्पति का बीज उसके अग्रभाग पर होता है जैसे धान वगैरह। 2. मूलबीज—इस वनस्पति का मूल भाग बीज का काम देता है जैसे कमल आदि। 3. पर्वबीज—इस वनस्पति का पर्व भाग (गांठ) बीज का काम देता है जैसे इक्षु (गन्ना) आदि। 4. स्कंध बीज—इस वनस्पति का स्कंध भाग बीज का काम देता है जैसे शल्लकी वगैरह। 5. बीजरूह—बीज से उगने वाली वनस्पति का नाम बीजरूह है, जैसे शाली वगैरह। 6. सम्मूर्छिम—जिस वनस्पति का प्रसिद्ध कोई बीज नहीं है और जो वर्षा आदि के समय यों ही उग जाती है, वह सम्मूर्छिम वनस्पति कहलाती है जैसे घास वगैरह।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस संसार में जो त्रस जीव हैं, उनमें भी अपने शरीरों की असहायता के कारण क्षुद्र प्राणियों की संख्या बहुत अधिक है लेकिन स्थावर काय के जीव तो यों मानिये कि इस संसार में सर्वत्र अँटे पड़े हैं। ये ही सूक्ष्म जीवात्माएँ होती हैं। इन्हीं की रक्षा का विषय सूक्ष्म जीवरक्षा के नाम से वर्णित किया गया है।

सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व और विज्ञान

खाद्य पदार्थ और पानी वगैरह मिलने पर बढ़ना, घाव लगने पर भर जाना और खाद्य पदार्थ को कितनी मात्रा में खाना—यह सब उपयोग सूक्ष्म जीवों में भी होता है जिसकी सामान्य रूप से प्रत्यक्ष जानकारी सबको भले न हो लेकिन वनस्पति आदि कई स्थानों पर सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व को आधुनिक विज्ञान ने भी स्वीकार किया है। यह विज्ञान अब मानता है कि पेड़-पौधों आदि विभिन्न वनस्पतियों में भी जीव होते हैं। एक माली एक पौधा लगाता है तो उसे नियमित रूप से खाद्य पानी देता है और वह बराबर बढ़ता रहता है। उसकी शाखा-प्रशाखा पर कोई चाकू से घाव करे तो वह स्वतः ही धीरे-धीरे भरता भी है। ध्यानपूर्वक सभी बातों को देखा जाय तो लगता है कि मनुष्य के शरीर सम्बन्धी सारे लक्षण उसमें भी घटित हो रहे हैं। ये ही लक्षण आत्म तत्त्व की उपस्थिति के लक्षण होते हैं। यदि उन अंकुरित पौधों को भी खाद्य और पानी न मिले तो वे सूख जाते हैं। इससे ही जीवन का होना या न होना दिखाई देता है।

आज से चार सौ वर्ष पहले कोई कहता कि वनस्पति में भी हमारे सरीखी शरीर की आत्मा है तो वीतराग भगवान के वचनों में आस्था रखने वाला श्रद्धालु ही उसको स्वीकार करता क्योंकि इस समय तक विज्ञान ने इतनी प्रगति नहीं की थी कि वह वनस्पति में जीवन की खोज कर लेता। तब भारत के ही प्रसिद्ध

वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बसु ने प्रामाणिक खोज की कि वनस्पति में भी जीव हैं और जीवन का अस्तित्व है। उस खोज को वैज्ञानिक जगत् में पूरा सम्मान मिला। उन्होंने मनुष्य के जीवन लक्षणों से वनस्पति की तुलना करते हुए एक-एक लक्षण को सिद्ध किया कि खाद्य व जल से जैसे मनुष्य शरीर जीवित रहता और बढ़ता है वैसे ही वनस्पति भी जीवित रहती और बढ़ती है। खाद्य व जल के अभाव में मनुष्य के शरीर के समान ही वनस्पति भी सूखती और जीवन रहित हो जाती है। मनुष्य शरीर की तरह ही वनस्पति में रोग होते हैं तथा औषधि प्रयोग से वे रोग ठीक होते हैं। यही नहीं, पेड़-पौधों में रोग निरोधक क्षमता भी होती है जो स्वतः रोग-चिकित्सा भी करती है।

विज्ञान की प्रगति धीमी और विलम्बित है। भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले ही स्पष्ट रूप से बता दिया था कि वनस्पति ही नहीं, पृथ्वी, पानी, हवा और अग्नि में भी आत्म तत्त्व की विद्यमानता है। जैसे मनुष्य सुख और दुःख का अनुभव करता है वैसे ही अनुभव इन सभी सूक्ष्म जीवात्माओं को भी होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर आत्म समानता का सिद्धान्त स्थापित किया गया है तथा सूक्ष्म जीव रक्षा पर बल दिया गया है।

वचन शुद्धि का आत्मानुभव

वचन शुद्धि के लिये कहा गया है कि तुम सत्य भी बोलो और प्रियकारी भी बोलो। यदि सत्य बोलने से भी किसी को कष्ट होता है या उसका अहित होता है तो वैसे कटु सत्य को भी मधुर बनाकर कहो। गृहस्थ की अपेक्षा सन्त-जन सारे संसार में श्रेष्ठ कहलाते हैं। उनके लिये शास्त्रकारों का निर्देश है कि वचन शुद्धि का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये। ऐसा कुछ कभी मत बोलो जिससे किसी भी जीवधारी को किसी भी प्रकार का दुःख हो। यदि तुम्हारे किसी वचन से किसी को कोई दुःख पहुँचता है तो समझो कि तुम्हारी वचन शुद्धि में अभी कोई कमी है। वचन शुद्धि में आत्मानुभव को समझने तथा उसी के अनुसार देखने व ध्यान रखने की आवश्यकता है।

विवेकशील आत्मा इस दृष्टि से इस रूप में चिन्तन करती है कि किसी के प्रति कटु शब्दों के उच्चारण से उसको दुःख होता है तो उस उच्चारण से स्वयं का वचन भी अशुद्ध होता है। जहां वचन अशुद्ध होता है तो समझो कि वहां उसका मन भी अशुद्ध है और उससे उसका तन भी अशुद्ध होता है। समझें कि एक साधु जंगल में विहार कर रहा था। घने वृक्षों के बीच उस साधु के साथ छोटे-बड़े अन्य साधु भी चल रहे थे। छोटे साधुओं को वृक्षों का आत्मानुभव

कराने के लिये वह साधु ऐसे शब्दों में बोला जिससे वृक्षों की आत्मा को दुःख न हो। वह बोला कि ये वृक्ष कितने आत्म मग्न और गंभीर हैं, कितने सुहावने और परोपकारी हैं कि स्वयं धूप या वर्षा झेलकर नीचे बैठने वालों को शीतल व सुरक्षित छाया देते हैं। ऐसे शब्दों के उच्चारण से वृक्षों के पत्ते और फूल, फल इस तरह हिलने-झूलने लगे जैसे कि उन प्रियकारी सत्य वचनों के प्रति वे अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे हों। अतः वनस्पति पर भी मधुर या कटु वचनों का वैसा प्रभाव पड़ता दिखाई देता है।

समझने की बात यह है कि प्रिय सत्य वचनों के प्रयोग से स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म जीवों को भी प्रसन्नता का आत्मानुभव होता है। वहीं सत्य वचन रूप कार्य का कारण भी यह माना जायेगा कि सत्य वक्ता का मन भी शुद्ध और सर्वहितकारी है। वैसी आत्मा का धारण किया हुआ तन भी शुद्ध कहलायेगा। साधक यदि वचन शुद्धि का ध्यान नहीं रखता है और अन्य प्राणियों को दुःख पहुँचाता है तो यह निश्चित मानिये कि किसी के दिल को तोड़ कर न तो सार्थक साधना की जा सकती है और न ही भगवान् की भक्ति। शास्त्रकारों ने बताया है कि वनस्पति के जीवों को कैसे-कैसे वचनों से कष्ट पहुँचाता है। यदि किसी वृक्ष के पास से गुजरते हुए कोई ऐसे वचन निकालता है कि इस वृक्ष को काटकर खंभे बनाये जावें तो बहुत अच्छे बनेंगे या कि इसको जला देने पर अच्छे कोयले निकलेंगे तो इन वचनों से उस वृक्ष को दुःख का आत्मानुभव होगा।

छः काया के जीवों को अभयदान दो

सन्त जन आपको इसी कारण उपदेश देते हैं कि छः काया के जीवों को अभयदान दो अर्थात् किसी भी प्राणी के मन, वचन और तन को अपनी किसी भी मानसिक, वाचिक या शारीरिक प्रक्रिया से किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाया जाये—यह पहली बात और दूसरी बात यह कि संसार के छोटे-बड़े या स्थूल-सूक्ष्म सभी जीवों को अपनी ओर से अभयदान दो। उन्हें निर्भय बनाओ तथा यथाशक्ति उन्हें सुख और शान्ति पहुँचाओ।

मनुष्यों में भी किसी युवक को अज्ञानी समझकर उसे मुँह पर कह दिया जाय कि तू मूर्ख है तो इस वचन से उसे दुःख होगा या नहीं। बन्धुओ! तुलनात्मक दृष्टि से और दुनिया के विज्ञान से इन सिद्धान्तों को समझा जाय तो आप भी दुनिया के सामने अपने सद्व्यवहार से आदर्श उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं। लेकिन मैं देखता हूँ कि ज्ञान और आचरण में वांछित परिवर्तन

लाने के लिये आपको फुर्सत कहां है? महाराज कहते हैं कि छः काया के सभी जीवों के प्रति दया करो, उन्हें अभयदान दो। इस पर इतना तो चिन्तन करें कि यह अभयदान क्या होता है और सभी जीवों के प्रति दया क्यों करनी चाहिये? आप थोड़ा ध्यान लगा कर इन सब सिद्धान्तों को नहीं समझेंगे और अपने वर्तमान आचरण में आवश्यक परिवर्तन नहीं लायेंगे तो आत्म-विकास के सही मार्ग को भी कैसे खोज पायेंगे? विकास के मूल साधन ज्ञान के प्रकाश को भी कैसे प्राप्त कर सकेंगे?

एक भक्त व्याख्यान सुनने के लिये आया करता था। बस अविवेकी भक्ति ही थी, ज्ञान और आचरण की तरफ उसका ध्यान नहीं था। वह व्याख्यान के बीच-बीच में 'घणी खम्मा' शब्द इतनी जोर से बोलता रहता था कि जैसे वह सबकुछ बड़े ध्यान से सुन रहा है। एक दिन एक सन्त ने उससे पूछ लिया—जीव की कितनी जातियाँ होती हैं? उसने कहा—पांच। फिर प्रश्न आया—कौन-कौन सी? उसने कहा—एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। महात्मा ने पूछा—पंचेन्द्रिय में कौन होते हैं? उत्तर में कहा गया—हाथी होता है। क्यों के उत्तर में वह बोला कि उसके चार पैर और एक सूंड होती है। महात्मा ने फिर पूछा—हाथी के सिवाय और कौन-कौन से जीव पंचेन्द्रिय होते हैं? उसने कहा—और कोई नहीं क्योंकि किसी अन्य जीव को मैं नहीं जानता जिसके चार पैर और एक सूंड कुल मिलाकर पांच इन्द्रियाँ हों। महात्मा उसकी आधारहीन जानकारी से ताज्जुब करने लगे। इस कारण फिर उन्होंने पूछा—चार इन्द्रिय वाले प्राणी कौन हैं? तो उसने कहा—ऊँट क्योंकि उसके चार पैर होते हैं। तेइन्द्रिय में कौन है? उसने कहा—घोड़ा क्योंकि वह 3 पैरों से खड़ा रहता है। दो इन्द्रिय में कौन है? तो कहा—मैं हूँ। तुम कैसे? उसने कहा—मैं और मेरी पत्नी दो होने से। एकेन्द्रिय में कौन है? उसने कहा—आप। क्यों? उसने कहा—आपके आगे-पीछे कोई नहीं होने से। कहने का आशय यह है कि बाहर से व्याख्यान सुनें और घणी खम्मा भी जोर से कहें तथा ज्ञान की ऐसी दशा हो तो क्या कहा जाय? ऐसी ज्ञानहीनता से भला कैसे अपेक्षा रखी जाये कि आचरण में भी आवश्यक परिवर्तन लाया जा सकेगा अथवा मन, वचन एवं तन की वांछित शुद्धि के माध्यम से छः काया के जीवों के प्रति दया, अभयदान और संरक्षण की वृत्ति अपनाई जायेगी। इसलिये मैं बराबर कहता रहता हूँ कि तात्त्विक बातों को जानने में आप रुचि रखिये। उन पर गहरा चिन्तन कीजिये तथा किसी भी प्रकार की शंका उपजे तो उसका सन्तों से समाधान लीजिये।

सूक्ष्म जीवों की रक्षा यानी अहिंसाव्रत

मिहिर श्रावक के प्रसंग से बतलाया गया है कि पहले अहिंसा अणुव्रत के अनुसार एक श्रावक जान-बूझ कर या संकल्प करके चलते-फिरते जीवों को नहीं मारे और स्थावर (सूक्ष्म) जीवों के विषय में मर्यादा करे कि अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं के अनुसार इतनी भूमि, इतना पानी, इतनी अग्नि, वनस्पति या वायु वह अपने उपयोग में लेगा। इस प्रकार की मर्यादाओं को ग्रहण करके वह सूक्ष्म जीवों की अपार राशियों को एक ओर अभयदान दे सकेगा तो दूसरी ओर वह अपने लिये समुद्र के पानी जितना पाप कम करके घड़े के पानी जितने पाप कार्यों में ही मर्यादित बन जायेगा। चाहे कोई काम किया जाय अथवा नहीं, लेकिन यदि छः काया के उपयोग के सिवाय अन्य जीवों को अभयदान नहीं दिया गया तो पाप क्रियाओं का क्षेत्र सम्पूर्णतः विस्तृत रहेगा।

ज्ञानवान मनुष्य अपनी आत्मा, मन और वाणी को पवित्र रखना चाहता है किन्तु उसकी यह पवित्रता अहिंसा व्रत के पालन तथा निरर्थक हिंसा का त्याग करने पर टिकी हुई रहती है, अतः उपयोग की मर्यादा लेकर छः काया के समस्त जीवों को अपनी ओर से अभयदान देने का संकल्प सुस्पष्ट कर लेना चाहिये। अहिंसा व्रत का विस्तृत वर्णन करने का यहाँ अवसर नहीं है जिसकी सामान्य या विशेष जानकारी आप सबको होगी। अतः इस दुर्लभ मानव जीवन में मन, वचन और कर्म की शुद्धि करके सूक्ष्म जीवों की रक्षा रूप अभयदान की वृत्ति अवश्य अपनाई जानी चाहिये।

दिनांक 12.08.1986

(जलगांव)

6

चाण्डिप्र धर्म का शुभादंभ

वासुपूज्य जिन अन्तर्यामी...

इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थकर हो चुके हैं। उन्होंने अपने-अपने शासन काल में अलौकिक आलोक के समग्र स्वरूप को जाना और भव्य जनों के कल्याणार्थ परम पावन उपदेश दिये। उन्हीं तीर्थकर भगवन्तों की स्तुति के माध्यम से उन्हें प्रतिदिन स्मृति पटल पर लाने का प्रयास किया जा रहा है। वासुपूज्य भगवान् ही नहीं, सभी तीर्थकर जो चाहे भूतकाल में हुए, वर्तमान काल में हैं और भविष्यकाल में होंगे, उन सबकी मौलिक देशनाएँ या कि मौलिक स्वरूप-महिमा एक सी रहेगी। तीर्थकर देव भी इसी मानव जाति के शरीर पिंड में उत्पन्न होते हैं तथा इसी मानव शरीर को धर्म साधना का माध्यम बनाकर उच्चस्थ आत्म-विकास की ओर अग्रसर होते हैं। वे जब तक केवलज्ञान को प्रकट नहीं कर लेते हैं, प्रधान रूप से स्वयं की आत्मशुद्धि में लगे रहते हैं।

आत्म शुद्धि की महत्ता

स्वयं की आत्म शुद्धि नहीं हो पहले तो अन्य आत्माओं अथवा जागतिक वातावरण की शुद्धि का सफल प्रयास कैसे किया जा सकता है? स्वयं की आत्म शुद्धि से ही अपना मन, वचन एवं कर्म जब शुद्ध होगा तभी उनका सकल प्रयास सर्व शुद्धि हेतु नियोजित किया जा सकेगा। इसी कारण पहले स्वयं की आत्म शुद्धि की विशिष्ट महत्ता मानी गई है। तीर्थकर देव भी इसी हेतु पहले स्वयं की आत्मा पर लगे हुए कर्म रज के कठिन कर्णों को सदा-सदा के लिये झाड़ देने में तत्पर बने रहते हैं। पहले वे अपने राज्य वैभव एवं अन्यान्य परिग्रह का परित्याग कर देते हैं एवं तदनन्तर साधना की त्याग भूमि पर मुक्त विचरण करते हैं। साधना की सम्पूर्ति तब होती है जब उनकी आन्तरिकता में आत्मा का विशाल, विराट् एवं व्यापक स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है। तब वे

अपने सम्पूर्ण जीवन को समता एवं समरसता के अमृत से आप्लावित बना लेते हैं। इसके पश्चात् ही वे अपने अनुभूत सत्य को भव्य जनों के समक्ष उद्घाटित करते हैं एवं आत्म विकास का उन्हें सच्चा मार्ग दिखाते हैं।

वैसी वीतराग वाणी के प्रकाश में आज भी हमारे सामने आत्म शुद्धि का मार्ग खोजने का प्रसंग है तथा मन, वचन एवं काया के योगों के जटिल व्यापार को इस व्यावहारिक जीवन में प्रकट रूप से समझने का अवसर है। वास्तविक योग का स्वरूप चैतन्य देव से सम्बन्धित है, लेकिन वास्तविक योग शक्ति को प्रकट करने के लिये मन, वचन एवं काया का योग-निरोध अपेक्षित रहता है।

अनादिकाल से यह चैतन्य देव इसी विशाल संसार में परिभ्रमण करते हुए इन्हीं तीन प्रकार के योगों से अपनी वास्तविक योग शक्ति को आच्छादित करता रहता है। जब इन्हीं तीर्थंकर देवों द्वारा आन्तरिक भेद विज्ञान साधा जाता है, उस प्रक्रिया में तब वे उस आच्छादित योग शक्ति को इन्हीं तीनों प्रकार के योगों का सुनियंत्रण एवं सुनियोजन करके अपनी आन्तरिकता में स्पष्ट एवं स्वच्छ रूप से अभिव्यक्त कर लेते हैं। चारित्र धर्म की आराधना एवं साधना के क्षेत्र में उनका प्रवेश इसी लक्ष्य को लेकर होता है। इस हेतु वे दीक्षा ग्रहण करते हैं तथा अपनी तपःसाधना के साथ वे अग्रिम चरण को स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रुतधर्म व चारित्र धर्म को वे सर्वदा एवं सर्वत्र एकभाव से आराधते हैं और उसमें सर्वयोगों की एकरूपता साधी जाती है। संक्षेप में कहूँ तो वे सावद्य योग की क्रियाओं का त्याग करते हैं। आत्मशुद्धि की अन्तर्महत्ता को वे अपने भीतर अनुभव करते हैं। चारित्र धर्म के शुभारंभ को सम्पन्नता तक पहुँचाते हैं एवं उसी आत्मशुद्धि के मार्ग को संसार के सभी भव्यजनों को अपनी उपदेश धारा द्वारा दिखाते हैं।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र का मोक्षमार्ग

तीर्थंकर देवों ने केवलज्ञान उपलब्ध कर लेने के पश्चात् जन कल्याणार्थ मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। उन्होंने बताया—

‘सम्यक् ज्ञानदर्शन चारित्राणि मोक्षमार्गः’ अर्थात् सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र की साधना ही मोक्ष प्राप्त करने का सच्चा मार्ग है। इस मार्ग को उन्होंने अपने ज्ञान के सम्पूर्ण प्रकाश में जनता को दिखाया, क्योंकि इसी मार्ग पर चलकर उन्होंने पहले अपना सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। अतः यह मार्ग स्वयं की अनुभूति एवं उपलब्धि के बाद ही उन्होंने जनता को दिखाया जो सर्वरूपेण अनुकरणीय है। अपने कठिन पुरुषार्थ से उन्होंने अपनी छद्मस्थ

अवस्था में सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना की, सफलता का उच्चतम स्तर प्राप्त किया और इसी अनुभव के साथ उन्होंने उपदेश दिया कि जो भी भव्य जन इस मार्ग का अनुसरण करेंगे, वे भी उन्हीं की तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सफल आराधना करके चरम स्थान को प्राप्त कर सकेंगे।

वास्तविक योग शक्ति को अभिव्यक्त कर लेने का मार्ग तीर्थकर देवों ने बताया है तथा ज्ञान दर्शन, चारित्र की आराधना करने की सभी विधियाँ भी उन्होंने स्पष्ट रूप से दिखाई है लेकिन आज प्रश्न यह है कि चतुर्विध संघ यानी साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका तथा उनके माध्यम से अधिकाधिक भव्य जन इस प्रदर्शित कल्याण-मार्ग का निष्ठापूर्वक अनुसरण करें।

यह कल्याण मार्ग व्यावहारिक पक्ष के अनुसार मुख्यतः चारित्र धर्म से सम्बन्धित है। आत्मविकास के मार्ग पर चलने वाले सब लोग समान शक्ति वाले नहीं होते। कोई ऐसा दृढ़ होता है जो मन, वचन और काया से सब पापों को छोड़कर एक मात्र आत्म-विकास को अपना ध्येय बना लेता है। दूसरा सांसारिक इच्छाओं को एकदम रोकने का सामर्थ्य न होने से धीरे-धीरे त्याग करता है। इसी तारतम्य के अनुसार चारित्र धर्म के दो भेद किये गये हैं— 1. सर्वविरति चारित्र यानी कि साधु या अनगार धर्म तथा 2. देशविरति चारित्र यानी कि श्रावक या सागार धर्म। साधु सावद्य योग व्यापार की सभी सदोष क्रियाओं का सम्पूर्ण रूप से त्याग करता है अतः पूर्ण होने से उसके व्रत को महाव्रत कहा गया है किन्तु श्रावक पूर्ण त्याग का सामर्थ्य नहीं होने पर भी त्याग की भावना होने से यथाशक्ति मर्यादित त्याग करता है। इस दृष्टि से श्रावक के व्रतों को अणुव्रत का नाम दिया गया है।

चारित्र धर्म का शुभारंभ कहाँ से ?

मोक्ष मार्ग के रूप में चारित्र धर्म का शुभारंभ देशविरति चारित्र यानी कि श्रावक धर्म से किया जाता है। यों तो दृढ़ भावना वाला अपने चारित्र धर्म का किसी भी कठिन एवं उच्च स्तर से शुभारंभ कर सकता है किन्तु सामान्य रूप से इसका शुभारंभ सागार एवं मर्यादित आचार से तो किया ही जाना चाहिये। इससे नीचे के स्तर पर ठहरना किसी भी भव्य आत्मा के लिये शोभनीय स्थिति नहीं होती है।

श्रावक धर्म भी एक प्रकार का पूर्वाभ्यास ही है क्योंकि सच्चे चारित्र धर्म की अनुपालना में सर्व सावद्य योगों का परित्याग आवश्यक है और उसी से आन्तरिक योगशक्ति को जागृत एवं प्रभावित कर सकते हैं। पूर्ण दृढ़ता के

अभाव में श्रावक धर्म का अनुसरण करते हुए वांछित दृढ़ता की प्राप्ति की जा सकती है। इस दृष्टि से श्रावक धर्म को साधु धर्म का पूर्वाभ्यास ही कहा जाना चाहिये क्योंकि एक श्रावक को सदा इस मनोरथ का चिन्तन करते रहना चाहिये कि कब वह शुभ समय आवे जब वह साधु धर्म को अंगीकार करके अपने जीवन को धन्य बनावे।

साधु के महाव्रतों के समान ही श्रावक के अणुव्रत भी पांच होते हैं। मूल अर्थात् त्याग का प्रथम आधार रूप होने से वे मूलगुण या मूलव्रत भी कहलाते हैं। मूलगुणों की रक्षा, पुष्टि और शुद्धि के लिये जो व्रत स्वीकार किये जाते हैं उन्हें उत्तरगुण या उत्तरव्रत कहा जाता है। श्रावक के लिये ऐसे उत्तर व्रत सात बताये गये हैं—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। जीवन के अन्त में एक और व्रत लिया जाता है जिसे संलेखना कहते हैं।

इस प्रकार श्रावक के बारह व्रतों का परिचयात्मक संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) पांच अणुव्रत—प्रत्येक साधक सभी छोटे-बड़े, सूक्ष्म-बादर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता है, इसलिये त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना— 1. अहिंसा अणुव्रत है। इसी प्रकार असत्य, चोरी, कामाचार और परिग्रह का भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार त्याग करना अथवा उनको मर्यादित करना क्रम से। 2. सत्य 3. असत्य 4. ब्रह्मचर्य एवं 5. अपरिग्रह अणुव्रत हैं।

(आ) तीन गुणव्रत— अपनी त्याग भावना के अनुसार पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित करना, उससे बाहर जाकर पाप कार्य का त्याग करना— 1. दिक् परिमाण व्रत है। जिन वस्तुओं में बहुत अधिक पाप की संभावना हो ऐसे खान, पान, गहने, कपड़े आदि का त्याग करके कम (अल्प) आरंभ वाली वस्तुओं की यथाशक्ति मर्यादा करना। 2. उपयोग परिभोग परिमाण व्रत है। अपने भोगरूप प्रयोजन के लिये होने वाले अधर्म व्यापार के सिवाय बाकी के सब पाप कार्यों से निवृत्ति लेना यानी कि निरर्थक कोई कार्य नहीं करना। 3. अनर्थ दंड विरति व्रत है।

(इ) चार शिक्षाव्रत— 1. काल का अभिग्रह लेकर अर्थात् अमुक समय तक अधर्म प्रवृत्ति का त्याग करना और धर्म प्रवृत्ति में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है। 2. हमेशा के लिये रखी हुई दिशाओं की मर्यादा में से समय-समय पर इच्छानुसार प्रतिदिन के लिये दिशाओं की मर्यादा बांधना और उसके बाहर जाकर पांच आस्रव सेवन का त्याग करना देशावकाशिक व्रत

है। 3. अष्टमी चतुर्दशी आदि तिथियों पर सावद्य कार्य छोड़ कर यथाशक्ति अशनादि का त्याग करके धर्म जागरण करना पोषधोपवास व्रत है। 4. न्याय से पैदा किये शुद्ध अशन, पान, वस्त्र आदि पदार्थों को भक्तिपूर्वक सुपात्र को देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

संलेखना व्रत का आशय है कि कषाय का अन्त करने के लिये कषाय के कारणों को घटाना तथा कषाय को निरन्तर कम करते चले जाना। यह व्रत जीवन के अन्त तक के लिये स्वीकार किया जाता है, इस कारण इस व्रत को मारणांतिक संलेखना व्रत कहा जाता है।

श्रावक के बारहों व्रतों का निर्दोष रीति से पालन करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि किस व्रत में किस प्रकार के दोष के लगने की संभावना रहती है। इन्हीं दोषों को जानने के लिये प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार हैं। यों बारह व्रतों के 60, सम्यक्त्व के 5, संलेखना के 5, ज्ञान के 14 तथा 15 कर्मादान के कुल मिलाकर 99 अतिचार होते हैं। श्रावक को इन सबका स्वरूप समझ कर इनसे बचकर चलना चाहिये ताकि वह अपने चारित्र्य धर्म की पालना निर्दोष एवं स्वस्थ रीति से सफलतापूर्वक कर सके।

देशविरति चारित्र्य का पहला स्तंभ : अहिंसा अणुव्रत

सच्चे ज्ञान और सच्चे श्रद्धान के साथ सच्चे आचरण का जो शुभारंभ किया जाता है उसमें देशविरति त्याग की दृष्टि से पहला अणुव्रत अहिंसा का होता है।

अहिंसा व्रत का अपार महत्त्व है। जो श्रावक धर्म की स्थिति से अहिंसा अणुव्रत को ग्रहण करते हैं, वे इस संसार के अनन्त जीवों के लिये अभयदान का प्रसंग उपस्थित करते हैं। अनन्त जीवों को अपनी ओर से भयमुक्त कर देना कोई साधारण कार्य नहीं है। भयग्रस्तता का जिसने कभी एक बार भी अनुभव किया हो और मन की पीड़ा भुगती हो, वह जानता है कि भय का कितना विषम प्रभाव मानसिकता पर पड़ता है। पापपूर्ण क्रियाकलापों को जीवन में जितना अधिक मर्यादित कर दिया जायेगा, समझिये उतने को छोड़कर शेष सभी जीव उसकी ओर से भयमुक्त हो गये हैं। इस रूप में अभयदान प्रदान करना कोई कठिन कार्य नहीं है लेकिन अहिंसा अणुव्रत के अनुपालन में यह विवेकपूर्ण कार्य अवश्य है। इस विवेकपूर्ण भावना की उपस्थिति में वह दिन उस के जीवन में जल्दी ही आता है कि वह अणुव्रत से महाव्रत के क्षेत्र में अतीव संयम एवं त्यागपूर्वक प्रवेश कर ले।

निरपराध एवं निरपेक्ष प्राणियों को संकल्प करके न मारने का श्रावक का अहिंसा अणुव्रत भी अहिंसा के क्षेत्र का सार्थक चरण कहलायेगा। यह उस श्रावक का अभयदान पाने वाले प्राणियों पर उपकार बाद में है, पहले तो उसका उसी पर उपकार है कि वह आत्मशुद्धि के मार्ग पर गतिशील बन जाता है। अभयदान देकर वह भी अभय बनता है और करुणा से आप्लावित बनकर अपने मन, वाणी एवं कर्म को पावनतर बनाता जाता है। यह अवश्य होता है कि एक श्रावक जिन प्राणियों को अभयदान देता है, वे प्राणी उस कृत्य को अपने पर उपकार हुआ मानते हैं तथा उसके प्रति सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि बनाते हैं। किन्तु श्रावक के अपने मन में एक पल के लिये भी उपकार का विचार कतई नहीं आना चाहिये। उसे तो यही सोचना चाहिये कि ये प्राणी मेरी साधना की सफलता के लिये श्रेष्ठ निमित्त बने हैं। मैं इनको निर्भय-अभय का जो स्वरूप दे रहा हूँ उसका परिणाम मेरी आत्मा के लिये होगा कि उनके साथ हिंसा का जो सिलसिला चल रहा था, वह बन्द हो जायेगा और उस हिंसा से सम्बन्धित कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने से उतना मेरे आस्रव का द्वार रुक जायेगा। यह लाभ ही मेरे लिये कम नहीं है कि समुद्र के पानी जितने पाप कर्म रुक गये और घड़े के पानी जितने ही शेष रह गये।

मान लीजिये कि किसी व्यक्ति पर अरबों-खरबों का कर्ज हो गया हो और वह सारे कर्जों को चुकाकर मात्र हजारों का ही कर्जदार रह जाय तो वह अपने आपको बहुत ही हलका महसूस करेगा अथवा नहीं? निश्चय ही वह शान्ति की सांस लेता है। यदि श्रावक हिंसा के जरीये अपनी आत्मा पर चढ़ने वाले कर्ज को पहले ही रोक देता है तो यह उसके द्वारा देश रूप से ही सही, अहिंसा अणुव्रत को ग्रहण करने पर ही संभव बनता है। इसलिये व्यर्थ के पाप से बचने के लिये अपने विवेक को जगाइये तथा अल्पतम मर्यादाएँ ग्रहण करके अहिंसा अणुव्रत का हृदय की सम्पूर्ण करुणा के साथ पालन कीजिये।

ऐसा करने से अपनी आत्मा पर लगे कर्म मल को जिस लगन से धोया जा सकता है तथा आने वाले कर्म मल को रोका जा सकता है, वह एक प्रकार से आत्मशुद्धि का अपूर्व चरण होता है। इससे आत्मा के चरम विकास का पथ प्रशस्त हो जाता है।

सबको सुरक्षा की भावना से आश्रस्त बनावें

कल्पना करें कि एक परिवार का मुखिया अपने परिवार के सदस्यों को सुरक्षित रखने के लिये अपने पड़ोस में रहने वालों को सताने की दुर्भावना रखता

था। वह सोचता था कि इन सबको सताऊँ, दबाऊँ, तंग करूँ या खत्म तक कर दूँ तो मेरे परिवार का जीवन निरापद हो जायेगा। उसने यह भी विचार किया कि वह अपने इस इरादे को मन में गुप्त ही रखेगा, कभी किसी को कुछ बतायेगा नहीं और मौका आने पर अपने इरादे पर अमल कर लेगा। ऐसा करने से उसके पड़ोसी असावधानी में पड़े रहेंगे और उसको अपना इरादा पूरा करने में आसानी रहेगी। फिर भी उसके इरादे की भनक पड़ोसियों को लग गई किन्तु उन्होंने बाहर बिना कुछ भी बताये भीतर ही भीतर सावधानी रखते हुए शक्ति संचय करना शुरू कर दिया।

अब बताइये कि उस परिवार तथा पड़ोसी परिवारों की मानसिक स्थिति कैसी रही होगी? दोनों वर्ग के परिवार एक दूसरे से भयग्रस्त, हर समय सावधान किन्तु हर समय आतंकित, पीड़ित और अशान्त। क्या वे आराम से खाना खा सकते थे या आराम से नींद ले सकते थे? इसी प्रकार एक सबल और दुस्साहसी व्यक्ति सारे गांव वालों से वैर बांध ले और बदले की धमकी देकर सबको आतंकित बनाये रखे तो क्या वह स्वयं और क्या सभी गांव वाले अपने आपको सुरक्षित महसूस कर सकते हैं? मन की दुर्भावना के साथ किसी भी व्यक्ति की ऐसी मनःस्थिति सारे समाज में, राष्ट्र में अथवा कि समस्त संसार के प्राणी समूह में भय का वातावरण पैदा कर सकती है। इसी भय को मिटाने का उपाय है श्रावक का अहिंसा अणुव्रत जिसके माध्यम से श्रावक स्वयं अभय बने तथा अधिकतम प्राणियों को अभयदान प्रदान करे, सबको सुरक्षा की भावना से आश्रित बनावे।

अब तक वैज्ञानिकों ने खोज कर ली है कि स्थूल शरीरधारियों के अलावा वनस्पति जैसे सूक्ष्म शरीरधारियों में भी प्राणों का अस्तित्व होता है। किसी के घातक प्रयास के साथ उनमें भी संवेदनशीलता फूटती है। यह भी जाना गया है कि इन सूक्ष्म शरीरधारी जीवों के मन में भी हिंसा के फैलाव का असर दिखाई पड़ता है। एक के हिंसक प्रयास से सभी सम्बन्धितों के मन में द्वेष की कुटिल वृत्ति सक्रिय हो जाती है। ऐसा शत्रुतापूर्ण वैर तब क्रिया-प्रतिक्रिया अथवा घात-प्रतिघात के चक्कर में पड़ कर अधिक क्रूर, अधिक हिंसक और अधिक आक्रामक बनता जाता है जिसकी परिणति सभी ओर से पाप पंक में फंसकर डूब जाने की होती है।

इसी कारण तीर्थंकर देवों ने उपदेश दिया है कि यदि तुम्हें शान्ति के साथ साधना करनी है तो समग्र प्राणियों को नहीं तो देशविरति रूप से ही उनको अभयदान दो जिससे तुम्हारी आत्मशुद्धि भी होगी और साधना भी सफल

बनेगी। पड़ोस के, गांव-नगर के, समाज के, राष्ट्र के और सारे विश्व के अधिकतम लोगों तथा प्राणियों की यदि तुम्हें सहानुभूति प्राप्त हो सकेगी तो उसके द्वारा तुमको अपूर्व शान्ति एवं श्रेष्ठ आत्मिक सुख भी उपलब्ध हो सकेगा।

अहिंसा अणुव्रत का शास्त्रीय स्वरूप

महाव्रत की अपेक्षा छोटा व्रत होने से तथा एकदेशीय त्याग के नियम की दृष्टि से श्रावक के अहिंसा व्रत को अहिंसा अणुव्रत कहा गया है। इसे आंशिक शील व्रत भी कहते हैं। अहिंसा अणुव्रत के अन्तर्गत एक श्रावक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है। स्व शरीर में पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवाय शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग करना स्थूल प्राणातिपात त्याग रूप पहला अणुव्रत है।

इस अहिंसा अणुव्रत के पांच अतिचार कहे गये हैं। वर्जित कार्य को करने का विचार करना अतिक्रम है। कार्य पूर्ति यानी व्रत भंग के लिये साधन एकत्रित करना व्यतिक्रम है। व्रत भंग की पूरी तैयारी है परन्तु जब तक व्रत भंग नहीं हुआ है जब तक अतिचार है। इसे यों भी कह सकते हैं कि व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अंश में व्रत को भंग करना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा न रखते हुए संकल्पपूर्वक व्रत भंग करना अनाचार कहलायेगा। अतः अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार, ये चारों ही व्रत की मर्यादा भंग करने के प्रकार हैं। दो शास्त्रों में व्रतों के अतिचारों का वर्णन है। किन्तु अतिचार के समान शेष तीनों को भी त्याज्य समझना चाहिये। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यदि संकल्पपूर्वक व्रतों की बिना अपेक्षा किए अतिचारों का सेवन किया जाय तो वह अनाचार सेवन ही है और वह व्रत भंग का ही कारण है।

प्रथम अहिंसा अणुव्रत के पांच अतिचार निम्नानुसार हैं—

1. **बंध**—द्विपद-चतुष्पदों को रस्सी आदि से अन्यायपूर्वक बांधना बंध है जो दो प्रकार का है—(अ) द्विपद का बंध व (ब) चतुष्पद का बंध। प्रत्येक के फिर दो भेद हैं—(क) अर्थबंध जो भी दो प्रकार का—सापेक्ष अर्थबंध तथा निरपेक्ष अर्थबंध तथा (ख) अनर्थबंध। श्रावक के लिये सापेक्ष अर्थ बंध अतिचार रूप नहीं है किन्तु अनर्थबंध और निरपेक्ष अर्थबंध अवश्य अतिचार रूप है तथा उसके लिये त्याज्य है।
2. **वध**—कोड़े आदि से मारना वध है। इसके भी बंध की तरह अर्थ-अनर्थ व सापेक्ष-निरपेक्ष भेद होते हैं। श्रावक के लिये उसी प्रकार अनर्थ और निरपेक्ष वध अतिचार में शामिल है।

3. छविच्छेद—शास्त्र से अंगोपांग का छेदन करना छविच्छेद है। इसके भी सप्रयोजन—निष्प्रयोजन तथा सापेक्ष—निरपेक्ष भेद होते हैं। निष्प्रयोजन तथा प्रयोजन होने पर भी निर्दयतापूर्वक हाथ, पैर, कान, नाक आदि का छेदन करना श्रावक के लिये अतिचार रूप है।
4. अतिभार—द्विपद चतुष्पद पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना अतिभार है। श्रावक को मनुष्य या पशु पर क्रोध या लोभ वश निर्दयता के साथ अधिक भार नहीं धरना चाहिये।
5. भक्तपान विच्छेद—निष्कारण निर्दयता के साथ किसी के भोजन पानी का विच्छेद करना भक्तपान विच्छेद अतिचार है। इसलिये इस अतिचार का परिहार करना चाहिये।

अहिंसा की व्यावहारिकता

घात-प्रतिघात के चक्र में चलते हुए इस संसार में किन्ही लोगों की मान्यता है कि अहिंसा का सिद्धान्त आदर्श हो सकता है किन्तु व्यावहारिक नहीं है। यह मान्यता प्रत्यक्ष रूप से अनुचित है। कारण, विश्व शान्ति सबको अभीष्ट है और इसमें जितने बाधक तत्त्व हैं उनमें से अधिकांश का निवारण अहिंसा के अनुपालन से संभव हो सकता है तब इसे अव्यावहारिक मानने का कोई औचित्य नहीं है।

क्रोध कभी क्रोध से शान्त नहीं होता है, उसे क्षमा से शान्त होते हुए प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी तरह द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुण प्रेम, प्रमोद आदि सदगुणों से नष्ट होते हैं। इसलिये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पूर्ण अहिंसा का पालन ही विश्व शान्ति का एकमात्र व्यावहारिक उपाय है।

अहिंसा अणुव्रत को एक श्रावक जब व्यावहारिक रूप दे तो उसे इन बातों का भी ध्यान रखना चाहिये— 1. जीवन को निरन्तर सादा बनाते जाना। 2. अपनी सभी प्रकार की आवश्यकताओं को कम करते जाना। 3. प्रत्येक कार्य में यतनापूर्वक सावधानी बरतना। 4. जहां तक हो सके, भूलों से बचते रहना और कोई भूल हो ही जाय तो उसकी उपेक्षा न करके प्रायश्चित्त ले लेना तथा भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न होने देना। 5. स्थूल जीवन की तृष्णा तथा उससे होने वाले राग-द्वेष आदि घटाने के लिये सतत परिश्रम करना। 6. हिंसा के दोषों से बचना जो चित्त की कोमलता को घटाते हैं और कठोरता बढ़ा कर आसक्ति को फैलाते हैं। तथा 7. जीवन की समस्त प्रवृत्तियों को बहिर्मुखता से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना।

अहिंसा अणुव्रत की व्यावहारिकता के संदर्भ में सोचा जाना चाहिये कि संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं। जिस प्रकार सुख हमको प्यारा लगता है उसी प्रकार दूसरों को भी प्यारा है। जब हम दूसरों का सुख छीनने की कोशिश करते हैं तो दूसरा भी हमारा सुख छीनना चाहता है। सुख की इस छीनाझपटी ने दुनिया को अशान्त और दुःखी बना रखा है। इस अशान्ति को दूर करके विश्व शान्ति की स्थापना करने का अहिंसा ही अमोघ उपाय है।

चरित्र धर्म को दीप्तित्वान बनाइये

सम्यक् चारित्र धर्म को दीप्तित्वान बनाते हुए मोक्ष मार्ग पर अग्रगामी बनना चाहिये। चारित्र धर्म के अनुसरण करने का अर्थ है कि आत्म स्वरूप में अधिकाधिक शुद्धि आती जाय। जो अशुद्धि है वह कर्म मैल की है और उसे शुद्ध करने के आचरण के मुख्य माध्यम हैं— संयम और तप। अहिंसा आदि अणुव्रतों या कि महाव्रतों का पालन संयम की कोटि में आता है तो स्वरूप शुद्धि का प्रमुख साधन तप को बताया गया है। तप के कठिनता पूर्वक आचरण से ही स्वयं की देह समेत सभी जड़ तत्त्वों के प्रति मोहवृत्ति घटती और मिटती है। तप आत्मा के पुरुषार्थ को जगाता है और साधक को सम्पूर्णतः एक आत्मार्थी बना देता है।

यहां भी चतुर्विध संघ में तपाचरण प्रबलता के साथ चल रहा है। तपाचरण में भी बहिनों की अपेक्षा पुरुषों का अल्पमत है। तप से दूर रहने वाले पुरुषों को क्या पुरुष भी कहा जाय? आनन्दघनजी कवि ने कहा है— 'जे ते जित्या रे, ते मुझ जितिया रे, पुरुष किसौ मुझ नाम'। पुरुषार्थ का धनी न हो तो पुरुष कैसा? और आत्म पुरुषार्थ का सजग साधन होता है तपाचरण जिससे अपने शरीर तक का मोह भी घट-मिट जाता है।

चारित्र धर्म को दीप्तित्वान बनाने का यही अभिप्राय है कि ज्ञान, दर्शन की उन्नति के साथ सदाचरण के प्रति पुरुषार्थ की सुदृढ़ता स्वस्थ हो जाय और मोक्ष मार्ग पर चरण तेजी से चल पड़े।

7

साकार : निराकार

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे....

तीर्थंकर महापुरुषों के गुणानुवाद के प्रसंग से प्रार्थना की पंक्तियां आती हैं। जब इन पंक्तियों पर चिन्तन करते हैं तो शास्त्रीय विषय भी सामने आ जाता है। इसके साथ-साथ ही दार्शनिक दृष्टिकोण भी उपस्थित हो जाता है। शास्त्रकार तत्त्वों का सामान्य रीति से प्रतिपादन करते हैं किन्तु उनमें भी अर्थ गांभीर्य भरा हुआ रहता है। सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रचुरता एवं स्पष्टता भी उस प्रतिपादन में रहती है।

जब कभी कोई सैद्धान्तिक चर्चा विद्वानों की मंडली के सामने चलती है तो वे उन सिद्धान्तों को मात्र तार्किक पद्धति से ही समझना चाहते हैं किन्तु उन्हें जिस विधि से समझाने का प्रसंग आता है, वह विधि दार्शनिक दृष्टि की होती है।

निराकार और साकार स्वरूप क्या ?

वासुपूज्य भगवान् की स्तुति के माध्यम से निराकार और साकार दोनों प्रकार का स्वरूप ध्वनित होता है। किन्हीं मनुष्यों का मस्तिष्क सहसा भ्रमित हो सकता है कि ये निराकार और साकार स्वरूप क्या है तथा इनका वर्णन एक ही आत्मा के प्रसंग से साथ-साथ में कैसे हो सकता है? परमात्मा के विषय में कहते आये हैं और सुनते रहे हैं कि वे निराकार होते हैं, फिर साकार भगवान् कहां हैं? भगवान् के निराकार और साकार दोनों स्वरूप एक साथ कैसे? यह प्रश्न बुद्धिवादी वर्ग के समक्ष आता है और वह इसका सन्तोषजनक उत्तर चाहता है।

शास्त्रकार इसका उत्तर देते हैं कि आत्मा दो रूपों में रहती है। एक निराकार रूप में तथा दूसरी साकार रूप में। निराकार रूप मनुष्य के चर्म चक्षुओं की दृष्टि से ओझल रहता है जबकि साकार रूप को वह अपनी आंखों से स्पष्ट

रूप में देख सकता है। यह भी आप समझें कि निराकार स्वरूप का अर्थ आकार रहित होना नहीं है। कई लोग यह सोच लेते हैं कि किसी को निराकार बताया है तो उसका तात्पर्य यही है कि उसका कोई आकार नहीं है। जैसे किसी वस्तु का अभाव बता दिया जाता है तो यह सोच लेते हैं कि वह वस्तु है ही नहीं, उसका भान ही नहीं है—शून्य में चली गई है। लेकिन वीतराग देवों की वाणी में सदा ही दार्शनिकता के साथ सापेक्ष चिन्तन का सद्भाव होता है। वे किसी भी उलझन भरे विचार को अपने ज्ञानालोक में सुलझाकर ही जनता के समक्ष प्रकट करते थे।

भगवान् ने अभाव को आपेक्षित बताया है तथा उसी प्रकार आकार को भी। स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु के विविध गुणों का अपेक्षा की दृष्टि से वर्णन किया जाता है। भिन्न-भिन्न पहलुओं को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से देखा जाता है। एक व्यक्ति पिता की अपेक्षा से पुत्र होता है तो अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी होता है। इसी प्रकार विभिन्न गुणों एवं सम्बन्धों के संदर्भ से एक ही व्यक्ति के अनेकानेक पहलू हो सकते हैं। जैसे इन विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर इस संसार के व्यावहारिक क्षेत्र में उलझने का प्रसंग नहीं आता है, उसी प्रकार दार्शनिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी स्याद्वाद अथवा सापेक्ष दृष्टि के अनुसार किसी भी सिद्धान्त को भली प्रकार से समझने में कोई उलझन नहीं आती है।

सापेक्ष दृष्टि से निराकार और साकार

इसी रूप में दार्शनिक दृष्टिकोण से निराकार और साकार स्वरूप आपेक्षित हैं। जिसमें रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि न हो उसे निराकार कहा गया है और जिसमें ये सब पाये जाते हों वह साकार कहलाता है। साकार स्वरूप को हर कोई देख सकता है। अब प्रश्न उठता है कि भगवान् निराकार भी हैं और साकार भी हैं—यह कैसे?

यह प्रश्न आप श्रोताओं से ही पहले पूछें कि एक ही आत्मा में निराकार और साकार दोनों स्वरूप साथ-साथ कैसे होते हैं? आप कभी-कभी सन्तों से सुनते होंगे कि—

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।

करम मैल को आन्तरो, बूझे बिरलो कोय।।

इसी में इस प्रश्न का उत्तर रहा हुआ है। क्या कहा है कि जीवों का स्वरूप सिद्धों जैसा है। क्या अर्थ हुआ इसका? जीवधारियों को तो आप साकार रूप में

अपने सामने देखते हैं, यह तो स्पष्ट है। फिर कहा है कि जीव ही सिद्ध होता है। क्या आपने सिद्ध भगवान् को देखा है? नहीं, तो फिर कैसे कह रहे हैं, कि जीव ही सिद्ध होता है? आप जो कह रहे हैं, वह सही है कि ऐसा ज्ञानियों के वचनों के आधार पर कहते हैं। और उनके वचन स्पष्ट रूप से समझ में आते हैं तथा समझ में आने लायक हैं कि जीवात्मा ही अपने स्वरूप से संलग्न सभी कर्मावरणों को पूर्णतः एवं मूलतः विनष्ट करके सिद्ध गति को प्राप्त करती है। लेकिन शरीर के भीतर जब आत्मा निवास करती है तब क्या उस आत्मा का स्वरूप सिद्ध भगवान् जैसा होता है? सिद्ध भगवान् का स्वरूप तो रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से रहित होता है और आपकी ये बाहर की आंखें रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को ही देखती हैं क्योंकि शरीरधारी जीवात्मा अपनी बाह्य दृष्टि से रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को ही देखती—महसूस करती है। लेकिन क्या चैतन्य देव आपके भीतर में है या नहीं? आप इससे इनकार नहीं कर सकते हैं। यदि इस शरीर में चैतन्य देव नहीं दिखाई देते हैं, तो क्या आप मानेंगे कि चैतन्य देव भीतर नहीं है? यदि भीतर नहीं है तो इस शरीर और मृत शरीर में अन्तर क्यों है?

वास्तविकता यह है कि इस शरीर में आत्मा का निवास है इस कारण इसमें जीवन है और यह चेतन है। ये जितने भांति-भांति के शरीर दिखाई दे रहे हैं, ये सब आत्मा की पोशाकें हैं क्योंकि भीतर रही हुई सबकी आत्माएँ एक दृष्टि से समस्वरूपी होती हैं। पोशाकें तो जड़ होती हैं लेकिन आत्मा से संयुक्त होने के कारण इस शरीर को जड़ नहीं कह सकते हैं। यह सत्य है कि सिद्धों जैसी आत्मा इस शरीर के कण-कण में व्याप्त होकर रह रही है जो प्रति पल महसूस होती है पर दिखाई नहीं देती। शरीर में आत्मा किस रूप में व्याप्त है—इसे एकदेशीय उदाहरण से समझिये। बिजली से चलने वाला एक हीटर हो तो उसे जब तक विद्युत धारा से नहीं जोड़ेंगे वह अपनी (लोहे की) शक्ति में होता है तथा उसे छुआ जा सकता है। परन्तु विद्युत धारा से जोड़ते ही वह एकदम लाल हो उठता है। उसमें लोहे का रंग ही नहीं रहता, बल्कि सारा ढांचा अग्निमय और आग के रंग जैसा बन जाता है। इसी तरह एक लोहे का गोला हो, वह आग में तपकर जब पूरा लाल हो जाय तब क्या आप बता सकेंगे कि आग उसके किस हिस्से में रही हुई है? यही कहेंगे कि वह पूरा का पूरा लौह पिंड अग्निमय बन गया है। अग्नि किसी एक भाग या स्थान में नहीं है, उसके कण-कण में व्याप्त है। यही अवस्था शरीर के भीतर आत्म तत्त्व के फैलाव की होती है। अतः एक अपेक्षा से आत्मा शरीर में दृष्टिगत होने से रूपी भी कही गई है तो अपने मूल निराकार स्वरूप से

अरूपी भी बताई गई है। यदि इस शरीर में आत्मा न रहे जिसे आप जीवन चला जाना कहते हैं, उस समय इसी शरीर का स्वरूप कैसा कहलाएगा? तब क्या इसे चैतन्यमय कह सकते हैं? एक मृत शरीर जड़ रूप बन जाता है।

आत्म स्वरूप की अनुभूति

आत्मा के अस्तित्व को देखा नहीं जा सकता लेकिन प्रति पल जाना जरूर जा सकता है या कि एक पल के लिये भी उसका अनुभव विलुप्त नहीं होता है। इस दृष्टि से आत्मस्वरूप इन बाह्य चक्षुओं की दृष्टि का विषय भले न हो किन्तु सतत अनुभव का विषय तो है ही और दिलचस्प बात यह है कि इस प्रकार का सतत अनुभव करने वाली भी स्वयं आत्मा ही है।

जीवन में आत्मा और शरीर की एकमेकता का एक और उदाहरण लीजिये। समझें कि दस किलो दूध में दस किलो पानी मिला दिया। उस बीस किलो मिश्रण को देखकर आप क्या कहेंगे? दूध या पानी? जैसा भी हो दूध ही कहेंगे। कारण उसमें पानी का नहीं, दूध का रंग दिखाई देता है। इस मिश्रण के समान ही इस शरीर के साथ आत्मा एकमेक हो रही है। तब तक आप कह सकते हैं कि आत्मा पुद्गलों के साथ घुली मिली हुई है। तब तक यह शरीर भी जीव है—चैतन्य है या यों कह सकते हैं कि यह जीवधारी शरीर है—जीवित शरीर है।

इस विश्लेषण के बाद आप ही बताइये कि आत्मा का स्वरूप रूपी हुआ अथवा अरूपी? यदि अरूपी कहें तो शरीर मय होकर वह दिखाई कैसे दे रही है? इसलिये उसे आप रूपी कहना चाहेंगे। जब तक शरीर में आत्मा रही हुई है, शरीर को जड़ नहीं कह सकते हैं। इस जड़-चैतन्य को समझने और समझाने वाली स्वयं आत्मा ही है। बल्कि यह रूपी आत्मा है। यही रूपी आत्मा एक दिन अपने सत्पुरुषार्थ की चरम सफलता प्राप्त करके अरूपी सिद्ध बन जाती है।

तो मैं कह रहा था कि आकार सिद्ध भगवान् का भी है, पर वह अरूपी होने से सिद्धात्मा निराकार कहलाती है। आप बन्दना का पाठ बोलते हैं, उसमें सिद्ध भगवान् की अवगाहना (ऊँचाई) कितनी बतलाई है? जानते हो न, एक हाथ आठ अंगुल जघन्य, चार हाथ सोलह अंगुल मध्यम तथा तीन सौ तैंतीस धनुष बत्तीस अंगुल उत्कृष्ट। यह उनके आत्म प्रदेशों का आकार है। किन्तु सिद्धात्मा के अरूपी होने से उसे निराकार कहा जाता है। एक प्रश्न यह भी उठता है कि उनके आत्म प्रदेशों के आकार में यह अन्तर क्यों है? जिस शरीर को उन्होंने छोड़ा, उस समय उनके आत्म प्रदेश उस शरीर के दो तिहाई भाग के

आकार में घनीभूत हो जाते हैं। इसलिये प्रत्येक सिद्धात्मा का अपना आकार (अवगाहना) उस के अनुरूप बनता है। आकार के बावजूद अरूपी होने से वे निराकार कहे जाते हैं। इस अवगाहना के होने से वे अपने स्वरूप में हैं और इसी कारण कहा जाता है कि सिद्ध भगवान् अपने स्वरूप में रमण करते हैं।

दूसरी ओर, आपके जीवन में अरूपी भाव दबा हुआ है जो भगवत्त्व रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार इस लोक में आत्मा के रूपी और अरूपी दोनों प्रकार वर्तमान रहते हैं।

शरीरी और अशरीरी आत्मा

भगवती सूत्र में वर्णन है कि भगवान् महावीर से प्रश्न करते हुए गौतम स्वामी पूछते हैं कि—‘रूवी भन्ते, आया अरूवी?’ भगवान् ने उत्तर दिया—‘गोयमा, रूवी वी आया अरूवी वी’। आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी है। गौतम स्वामी ने फिर पूछा—ऐसा कैसे कहा जाता है? तो उत्तर मिला—जिनके कर्म रूप शरीर (कार्माण) हैं, वे सभी आत्माएँ रूपी हैं और जिनके कर्म रूप शरीर नहीं रहा, उन आत्माओं का स्वरूप अरूपी बन गया।

तीर्थकर कैवल्य ज्ञान प्राप्त करके अरिहन्त भगवान् हो जाते हैं। वे जब तक मोक्ष में नहीं जाते तब तक उनके शरीर का आकार दिखाई देता है या कि नहीं? उनका आकार तथा उनकी आकृति दिखाई देती है और वे ही तीर्थकर जब मोक्ष में चले जाते हैं तो क्या उनके आकार का दिखना बना रहता है? नहीं। ऐसा क्यों? केवलज्ञान तो अरिहन्तों और सिद्धों में समान होता है फिर एक का शरीर तो दिखता है और दूसरे का नहीं। इसका कारण यही है कि सशरीरी अर्थात् रूपी आत्मा दिखाई देती है तथा अशरीरी और अरूपी आत्मा दिखाई नहीं देती। अरिहन्त भी जब अपनी आयु पूरी करके अपने शरीर को छोड़कर मोक्ष में चले जाते हैं तब वे भी निराकार हो जाते हैं। मोक्ष में शरीर नहीं है तो वहां रूपी आत्मा भी प्रवेश नहीं कर सकती है।

संसार में भी शरीर में जहां तक इस आत्मा का निवास है वहीं तक उसे जीवित माना जाता है अन्यथा आत्मा के उस शरीर से अलग हटते ही वह शरीर मृत घोषित कर दिया जाता है और उसका अन्तिम संस्कार करके उसे अस्तित्वहीन बना दिया जाता है। क्योंकि अकेला होकर यह शरीर जड़ रूप हो जाता है। इसी प्रकार अरिहन्त भगवान् के शरीर में भी जब तक चैतन्य आत्मा रहती है तब तक उनका साकार स्वरूप रहता है किन्तु उसी आत्मा के मोक्ष में चले जाने के बाद उनके शरीर का भी दाह संस्कार कर दिया जाता है।

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का यों वर्णन करेंगे कि आत्मा मूलतः सचेतन है पर कर्म सहित जब तक शरीर धारण किये रहती है उस समय वह चेतन आत्मा भी साकार स्वरूपी होती है और अशरीरी एवं कर्मरहित बनकर वही आत्मा निराकार स्वरूपी हो जाती है।

आत्मा का शरीर के साथ संयोग कब तक ?

अब यह प्रश्न उठता है कि आत्मा इस शरीर के साथ कब तक संयुक्त रहेगी ?

वीतराग देवों के सम्पूर्ण उपदेशों तथा दार्शनिक विचारधाराओं का सकल निष्कर्ष यही है कि आत्मा का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। चेतन के जड़ के साथ हो रहे संयोग से मुक्ति पाने का नाम ही मोक्ष है। इस संसार में चूंकि सभी आत्माएँ न्यूनाधिक रूप से कर्म पुद्गलों से यानी कि कार्माण शरीर से बंधी हुई हैं तथा प्रत्येक क्रिया से कर्म बंधते-हटते रहते हैं अतः जन्म-जन्मान्तर का, जीवन-मरण का तथा नये-नये शरीरों के धारण करते रहने का सिलसिला जारी रहता है। इस सिलसिले को तोड़कर जड़-बन्धन से मुक्त होने के लिये ही इस संसारी आत्मा को सत्पुरुषार्थ करने की सीख दी जाती है। जब तक यह सत्पुरुषार्थ सफल नहीं बनेगा तब तक यह आत्मा नये-नये जन्म लेती रहेगी और नये-नये शरीर धारण करती रहेगी। इसलिए आत्मा का शरीर (जड़) के साथ संयोग कब तक रहेगा, यह इसी आत्मा के सत्पुरुषार्थ और उस सत्पुरुषार्थ की पूर्ण सफलता पर निर्भर है।

ऐसे सत्पुरुषार्थ का तात्पर्य है कि संवर द्वारा नये कर्म बंध को रोकेँ तथा निर्जरा द्वारा पहले के बंधे हुए कर्मों को नष्ट करें। जब नये कर्म बंधेंगे ही नहीं और पुराने कर्म नष्ट हो जायेंगे तब यह आत्मा शरीर के बंधन को भी तोड़कर अशरीरी व अरूपी हो मोक्ष में स्थिर हो जायेगी। जब वहां शरीर नहीं रहेगा तो किसी भी प्रकार की मोह-माया भी नहीं रहेगी। इसलिये वहां पर मुक्तात्मा या कि सिद्धात्मा परमात्म स्वरूपी बनकर सदा-सदा काल के लिये अमर हो जायेगी।

परमात्मा की स्तुति करने का यही अभिप्राय है कि हम परमात्मा के स्वरूप को समझें। उसकी तुलना में अपनी आत्मिक शुद्धता को परखें तथा अपनी आत्मा के स्वरूप को भी उज्वलतम बनाने हेतु अपना सत्पुरुषार्थ पूरी लगन और निष्ठा से नियोजित कर दें। यही इस मानव जीवन का सबसे बड़ा सत्पुरुषार्थ है और माना जाना चाहिये।

आत्म तत्त्व के मौलिक स्वरूप को समझें

आत्म तत्त्व के मौलिक स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। यदि मूल को ही नहीं समझे और उसे आवश्यक खाद-पानी नहीं दे पाये तो उस वृक्ष के फूल-पत्तों तथा शाखा-प्रशाखाओं को हरा-भरा कैसे रख सकते हैं? सोचिये कि यदि माली उस वृक्ष के फूल-पत्तों आदि को पानी पिला दे मगर मूल की उपेक्षा कर दे तो क्या वह वृक्ष को हरा-भरा रख सकेगा?

वर्तमान युग में अधिकांश मानव क्या कर रहे हैं? आत्मा को तो समझते नहीं और समझने का यत्न तक नहीं करते लेकिन हर उपाय से शरीर को हरा-भरा और सुखी रखना चाहते हैं। इस जीवन में आत्मा मूल है तो शरीर उसका फूल-पत्ता। मूल को भूल कर केवल फूल-पत्ते की परवाह क्या हमेशा कामयाब रह सकेगी? यदि इस शरीर का मूल चला गया तो क्या कोई पीछे रहे शरीर को अपने पास रखेगा, उसकी सुख-सुविधा को देखेगा या कि उसके बाल संवार कर उसका शृंगार करेगा? आत्मा से रहित बने शरीर को जल्दी से जल्दी घर से बाहर किया जाता है और यथासाध्य शीघ्र जला दिया जाता है।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि मूल को समझिये, चेतन आत्म तत्त्व को पहचानिये और उसे जीवन के किसी भी क्रियाकलाप में भूलें नहीं। जो मूल को समझना है वही आत्म स्वरूप की मौलिकता को समझना है—उसके द्वारा आचरणीय मूल व्रतों को समझना है।

यह आस्था और अनुभव का विषय है

आत्म स्वरूप को कुतर्कों की कसौटी पर चढ़ा कर नहीं जान सकेंगे। इसका जानना स्वयं के अनुभव का विषय है तथा उससे भी ऊपर आस्था का विषय है। आप नहीं जानते कि आपके कथित पिता ही आपके पिता हैं और इसके कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी कठिन होते हैं, फिर भी आस्था ऐसी भावना है जो अपने पिता के बारे में कभी कोई शंका तक नहीं उपजने देती है। आस्था है वहीं मन का विश्वास है तथा यही प्रयत्नशील होने पर सत्य के समीप ले जाती है। उसी प्रकार वीतराग देवों की वाणी में भरपूर आस्था होनी चाहिये तथा उसके साथ अपने अनुभव को जोड़कर निःशंक मन से आत्म तत्त्व की अनुभूति ली जानी चाहिये। उसकी परमात्म स्वरूप के अनुसार शुद्धि का पराक्रम करना चाहिये तथा उपदेशित मोक्ष मार्ग पर चलकर आत्मा का चरम विकास साध लेना चाहिये।

इसी मौलिक तत्त्व का ज्ञान, परिचय और उद्धार करने के लिये चारित्र्य धर्म का शुभारंभ करना चाहिये। अधिक दृढ़ता और अधिक कठिनाई झेलने की

क्षमता न हो तो एक आत्मार्थी श्रावक के बारह व्रत ग्रहण करके अपनी दीर्घ आत्म-यात्रा के पथ पर आगे कदम बढ़ा सकता है। कहा जा चुका है कि इन बारह व्रतों में पहले पांच मूलव्रत हैं और महाव्रतों से छोटे होने के कारण अणुव्रत हैं— फिर तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं जिन्हें उत्तरव्रतों की संज्ञा दी गई है।

आत्मोद्धार का मार्ग

मनोविज्ञान की दृष्टि से मैं संयम का स्वरूप बतलाता हूँ जिसके माध्यम से ही यह संसारी आत्मा अपने परम उद्धार का मार्ग ढूँढ़ सकती है। कोई आपको कहे कि मैं पांच रुपये दूंगा इस असहाय जीव चींटी को मार दो तो क्या आप मार देंगे? अपने संस्कार और शिक्षा की वजह से आप ऐसा नहीं करेंगे बल्कि आपके घर का कोई बच्चा भी ऐसा शायद ही करे। आपकी परिवार परम्परा में अहिंसा और जीव रक्षा के जन्मजात संस्कार होते हैं। मैं समझता हूँ कि भारतीय संस्कृति के प्रति सार्थक निष्ठा रखने वाले सभी भारतीयों में ऐसे संस्कार दिखाई देंगे। जो भाई खेती करते हैं उसमें विवशता पूर्वक जो जीव हिंसा होती है उससे उन भाइयों का अहिंसा का मूल व्रत भंग नहीं होता है। क्योंकि भावना का मुख्य महत्व होता है। खेती करने वाला सबके प्रति सहृदय भावना रखता है और अपने कार्य को यतना पूर्वक करता है, तब भी जो जीव हिंसा हो जाती है, वह उसके श्रावक के व्रत को तोड़ती नहीं है, जबकि अविचारपूर्वक चींटी को मार देने से मूलव्रत भंग होता है।

समझने की बात यह है कि अपने रास्ते आने-जाने वाले जीवों को मारने की या कष्ट देने की चेष्टा मत करो। इतना सा व्रत तो आप सभी ले सकते हैं— इसका पालन करने में तो कोई दिक्कत नहीं है। सोचिये कि आपने पत्र लिखकर लिफाफे में डाल दिया और उस लिफाफे को बंद कर दिया लेकिन उस लिफाफे पर टिकिट (स्टाम्प) नहीं लगायेंगे तो क्या वह लिफाफा अपने गंतव्य तक पहुँच पाएगा? टिकिट भी लगाना चाहिये, मुहर भी लगनी चाहिये वरना बैरंग जाकर वापस दंड सहित लौट आयेगा। इसी प्रकार अपने जीवन में भी जो व्रत चल रहे हैं अथवा चलाना चाहते हैं उन पर प्रतिज्ञा की मुहर-छाप लगाना जरूरी है। अगर प्रतिज्ञा रूपी छाप-मुहर लगा लेते हैं तो व्यापार में आपके भाई जो भी हिंसापूर्ण क्रिया कलाप कर रहे हैं अथवा घर में बहिर्न विभिन्न कार्यों में पाप प्रक्रिया चला रही हैं तो उससे आपका व्रत नहीं टूटेगा। यह अल्पतम हिंसा होती है।

आनन्दजी श्रावक के पांच सौ हलक जमीन थी। वे उस पर खेती करते और करवाते थे। उसमें जीवों की हिंसा भी होती ही होगी फिर भी वे व्रतधारी

रहे तथा उनका व्रत नहीं टूटा। इसी दृष्टि से आपको यह समझा रहा हूँ कि आरम्भजा हिंसा से आपका व्रत नहीं टूटता है और उदासीनता रहने से उस आरम्भजा हिंसा का पाप भी कम लगता है। श्रावक के अहिंसा अणुव्रत के अतिचार पहले बता दिये गये हैं जिनसे श्रावक को बचते हुए अपने व्रत का पालन करना चाहिये।

आत्मा को समझ लेंगे तो स्वस्थ हो जायेंगे

आत्मा के प्रति पूर्ण आस्था रखकर यदि आत्म स्वरूप को भली प्रकार समझ लेंगे तो अन्ततोगत्वा स्वस्थ हो जायेंगे। यह 'स्वस्थ' शब्द, जो तबीयत के बारे में प्रयुक्त होता है, साधारण शब्द नहीं है। यह स्व+स्थ से मिल कर बना है अर्थात् निजत्व में स्थापित हो जाना ही स्वस्थ होना है।

अपनी ही आन्तरिकता में कौन स्थिर हो सकता है? वही जो आत्मा की मौलिकता को पहचान ले, सांसारिक विषय भोगों में उसकी आसक्ति को समझ कर जड़ मोह से दूर हटने लगे तथा संयम साधना में निमग्न होकर अन्तर्मुखी बन जाय। वही बाहर से हटकर भीतर स्थिरतापूर्वक निवास कर सकता है। तभी उसे स्वस्थ मान सकेंगे।

क्या आप स्वस्थ हैं? सोचिये, गहराई से सोचिये। आत्मा को जागृत बनाकर सोचिये, तब आपको अपने वर्तमान आत्म स्वरूप की प्रतीति होगी, आपको कर्मों के भीषण रोग दिखाई देंगे तथा स्वस्थ होने की इच्छा बलवती बनेगी।

8

स्वतंत्रता की दिशा

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे...

स्वतंत्रता क्या? अपना स्वयं का तंत्र (शासन) चले वही तो स्वतंत्रता है न? इसका दूसरा नाम स्वाधीनता भी है यानी कि अपनी ही अधीनता, किसी दूसरे की नहीं। आप का मन चाहे या न चाहे, कोई दूसरा आदेश दे और उसका आपको बलात् पालन करना पड़े—इसे ही तो पराधीनता या परतंत्रता कहते हैं। दूसरे की मर्जी के मुताबिक चलना अच्छा नहीं लगता क्योंकि अपनी मर्जी के मुताबिक ही हर कोई चलना पसन्द करता है। तो क्या मनमर्जी से चलना ही सही बात मानी जानी चाहिये?

यहां पर स्वतंत्रता और स्वच्छंदता के भेद को समझ लेना चाहिये। तंत्र शब्द से एक व्यवस्था का बोध होता है, वहीं स्वच्छंदता की स्थिति एक प्रकार से अनुशासनहीनता की सूचक मानी जाती है। इसलिये स्वतंत्रता का अर्थ माना जाना चाहिये एक अनुशासनयुक्त व्यवस्था और वह भी अनुशासन स्वयं का, आत्मा का अर्थात् आत्मानुशासन। अतः आत्मानुशासन को ही स्वतंत्रता का बीजमंत्र कहेंगे। वह स्वतंत्रता चाहे एक व्यक्ति की हो, समाज की या राष्ट्र की हो अथवा सम्पूर्ण विश्व की ही क्यों न हो? स्वतंत्रता का अर्थ है आत्मानुशासित व्यवस्था का अनुसरण।

आत्मानुशासन ही क्यों?

भगवान् महावीर का कथन है कि—

अप्पा कत्ता य विकत्ता य, सुहाणय दुहाणय।

अप्पा मितममितं च, दुपट्ठयो सुपट्ठयो॥

अर्थात् स्वयं के दुःख अथवा सुख को करने वाली और न करने वाली यही आत्मा है एवं अपने किये हुए सुख-दुःख को भोगने वाली भी यही आत्मा है। इस कारण आत्मा ही अपनी मित्र भी है और अपनी शत्रु भी है।

इसका आशय क्या? यही कि अपना कृतित्व किसी अन्य के अधीन नहीं, अपनी ही आत्मा के अधीन होता है। आत्मा ही अपनी सुख-दुःखमय स्थितियों की स्वयं ही कर्ता, विकर्ता और भोक्ता होती है तथा इसी हेतु यदि वह विवेकपूर्वक अपने लिये सुख का सृजन करती है तो वह अपने ही प्रति मित्रता निभाती है। इसके विपरीत अपनी विवेकहीनता और संज्ञाहीन वृत्तियों व प्रवृत्तियों से दुःखपूर्ण परिस्थितियों की रचना करके स्वयं ही स्वयं की शत्रु बन जाती है।

स्वयं का कर्तृत्व जब स्वयं पर ही निर्भर हो तो क्या किसी अन्य शक्ति को दोष दिया जा सकता है? आप अपना तंत्र चलावें, भूलें करके हानि उठावें और फिर दोष किसी अन्य को दें तो क्या वैसी बात चलने लायक होती है? अपना तंत्र चलावें और वह सुखकर हो तो इसके लिये तंत्र को चलाने की जवाबदारी भी स्वयं को ही ओढ़नी पड़ेगी। अपना तंत्र चलाने वाले को जिम्मेदार भी होना पड़ता है, नहीं तो उसका कुफल भी उसी को भोगना पड़ता है। जो कर्ता होता है, अपनी क्रियाओं का वहीं भोक्ता होता है। ऐसा नहीं होता कि कर्ता कोई और हो और उसी क्रिया के फल का भोक्ता कोई और।

यह कहावत दुनिया में प्रचलित है कि 'जो जैसा करेगा, वो ही वैसा भरेगा।' जो जैसा करता है, वह उसका वैसा फल पाता है। मिर्च को जो खाता है, मुँह उसी का जलता है। मिर्च खाने के बाद उसका मुँह जलाने के लिये दूसरा कोई नहीं आता है। इसलिये अगर आपको अपना मुँह नहीं जलाना है तो खुद ही मिर्च मत खाओ। अपने पर अनुशासन रखो कि गलत इच्छा को दबाओ और मिर्च न खाओ तो आप मुँह जलने के कष्ट से बच जायेंगे। यही आत्मानुशासन का रहस्य है। अपने तंत्र को आप ही व्यवस्था बद्ध रखेंगे तो आपकी स्वतंत्रता को कभी भी कोई छीन नहीं सकेगा।

आपकी स्वतंत्रता आपके हाथ में

आपकी अपनी स्वतंत्रता आपके ही हाथ में होती है कि वह सुरक्षित रहे। यदि आपके हाथ कमजोर हुए तो आपकी स्वतंत्रता खो जायेगी और उसके खो जाने का दोष आपका ही होगा, किसी अन्य का नहीं। तंत्र अपना तो उसकी सुरक्षा का दायित्व भी अपना ही रहेगा। उस दायित्व के निर्वाह में जितनी सुदृढ़ता रहेगी उतनी ही वह स्वतंत्रता भी सुदृढ़ रहेगी अन्यथा दायित्व का दुर्बल या दोषपूर्ण निर्वाह अपनी उस स्वतंत्रता को भी खतरे में डाल देगा।

आज के दिन जो स्वतंत्रता दिवस मनाया जाता है वह उन भारतीय सपूतों की स्मृति में है, जिन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये अपना जीवन

समर्पित कर दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के उस समय के संघर्ष में उन बलिदानी पुरुषों ने अपने दायित्व का कैसे निर्वाह किया तथा आज उसी स्वतंत्रता की सुरक्षा के हेतु भारतीय जन अपने दायित्व का किस रूप में निर्वाह कर रहे हैं—इस तुलनात्मक अध्ययन की वर्तमान में नितान्त आवश्यकता है। उस समय उनका उद्देश्य और उनकी विचारधारा किस रूप में थी और आज की विचारधारा और उद्देश्य किस रूप में हो गये हैं और परिवर्तन इसमें आया तो क्यों?

बुद्धिवादी वर्ग, चिन्तक, युवा चेता आदि इस प्रश्न का समाधान लेने के लिये उत्सुक रहते हैं। आवश्यक है कि उसका समाधान खोजा जाय और मिले। इस शताब्दी में इस उभरते हुए प्रश्न का समाधान देने के लिये कौन चिन्तन करता है? और चिन्तन तथा आत्म-चिन्तन किये बिना भला समाधान भी कैसे मिलेगा? मूल प्रश्न को जब तक नहीं छुआ जायेगा तब तक उसका कोई समुचित निष्कर्ष निकालना भी संभव नहीं होगा।

स्वतंत्रता के बाद की स्थितियों में परिवर्तन क्यों?

कल्पना करें कि एक बच्चा स्वतंत्रता प्राप्ति के दिन (15 अगस्त 1947) जन्मा तो आज उसकी आयु कितनी हो जाती है? 39 वर्ष, सही है न? 39 वर्ष की उम्र वाला पूर्ण युवा होता है। हृष्ट-पुष्ट तन्दुरुस्त और तरो-ताजा। सामान्यतया ऐसा होता है कि नहीं? अपवाद की बात अलग है। साधारण रूप में ऐसा नहीं होता कि 39 वर्षीय युवा हताश और निराश हो अथवा अशुद्ध जीवन जीने वाला हो। यदि वस्तुतः वह जीवन जीने की कला से जी रहा है तो यह आयु सबल और जागरूक यौवन प्रस्फुटन की आयु होती है।

किन्तु आज 39 वर्ष के स्वतंत्र भारत की क्या अवस्था है? स्वतंत्रता के पहले जो संघर्ष करने का उत्साह, त्याग और बलिदान करने का भाव था, वह स्वतंत्रता के बाद तिरोहित-सा क्यों हो गया है? जिस सत्ता को राष्ट्र का नव-निर्माण करने तथा कोटि-कोटि दीन जनों का जीवन सुखमय बनाने का साधन माना गया था, वही सत्ता, भोग और स्वार्थी की छिछली लड़ाई का हेतु क्यों बना दी गई है? स्वतंत्रता पाने के बाद त्याग की भावना अधिक बलवती होनी चाहिये थी ताकि देश आत्मनिर्भर होकर कल्याणकारी धर्म के पथ पर अग्रसर होता किन्तु त्याग की जगह भोग की भयंकर लालसा क्यों फूट पड़ी है? जो धन राष्ट्र का बनकर संविभाग द्वारा सबको सुखी बनाने के काम में आना चाहिये, वही धन सत्ता और नीति के दुष्प्रयोग से व्यक्तिगत तिजोरियों में बंद होकर विषमता की

ज्वालाएँ क्यों भड़का रहा है? आखिर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की परिस्थितियों में ऐसा आत्मघाती परिवर्तन क्यों आया है?

इन सब प्रश्नों का उत्तर एक वाक्य में इस प्रकार दिया जा सकता है कि जिसको जब तक जीवन जीने की कला नहीं आती, तब तक उसे जीवन का आनन्द भी नसीब नहीं होता है। जीवन पाओ और जीवन जीने की कला न सीख पाओ—उसे विडम्बना ही कहेंगे। जीवन जीने की कला से अबूझ व्यक्ति या राष्ट्र की आयु चाहे जितनी बढ़ जाय, उसके जीवन में सच्चे आनन्द की धारा नहीं फूटती है। वर्षगांठ मनाते रहे—39वीं, 40वीं और आगे भी, लेकिन उससे ही देश की दशा में सुखकारी परिवर्तन हो जायेगा, ऐसी कल्पना अविवेकपूर्ण ही कहलायेगी।

जीवन जीने की कला के साथ जहां पर जीवन जीया जा रहा है, वहां पर वर्षगांठ मनाने का अनोखा ही आनन्द होता है क्योंकि सभी लोग उल्लास और उमंग से ओत-प्रोत रहते हैं। प्रश्न उठता है कि आज की परिस्थितियों में ऐसा सुखद परिवर्तन कैसे लाया जाय? यदि ऐसा नहीं हो पा रहा है तो मूल में रही हुई भूल की तरफ सबका ध्यान जाना जरूरी है। देश की बागडोर सम्भालने वाले नेता तो यहां उपस्थित नहीं हैं। हाँ, सुरेश दादा उपस्थित हैं जो नगर पिता हैं— एम.एल.ए. हैं अतः उन्हीं के माध्यम से मैं इस विषय का कुछ विवेचन कर दूँ।

मूल की भूलों को जांचो, सुधारो

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक से लेकर उनतालीस वर्षों के बीच भी क्या भारत ने कभी भी एक स्वस्थ तरुण के दीप्तिमय जीवन जैसा अनुभव लिया है? यदि नहीं तो क्या यह स्वतंत्र भारत जन्म से ही रोगग्रस्त हो गया? और हो गया तो क्यों तथा उसका उपचार सही तरीके से किया गया या नहीं?

स्वतंत्रता पश्चात् की परिस्थितियों का विस्तृत और बारीक विश्लेषण करें तो यह समझ में आयेगा कि इस भारत देश का शरीर जरूर बढ़ा है, कलेवर अवश्य फैला है लेकिन इसका आन्तरिक स्वास्थ्य न तो अनुकूल बना और न आज भी है। आन्तरिक स्वास्थ्य अर्थात् नीतिमय जीवन जीने की पद्धति, मानवीय मूल्यों की स्थापना, भावनामय एकीकरण, पारस्परिक सौहार्द्र और सहयोग, राष्ट्रीयता का अनुभाव, चारित्र्य विकास की निष्ठा आदि जब तक प्रत्येक नागरिक में समुन्नत न बने तब तक देश का यौवन कैसे उमंग और उल्लासमय बन सकता है? और ये ही मूल की भूल है, जिन्हें आज जांचने और

सुधारने की अनिवार्यता है। शरीर कितना ही फूला हुआ हो, उसे अच्छे गहने-कपड़े भी पहना दें, मगर भीतर टी. बी. की बीमारी हो तो जवान शरीर भी बूढ़ा ही दिखेगा। आन्तरिक स्वास्थ्य की अनुकूल बातों का अभाव तो है ही, ऊपर से सत्ता के दुरुपयोग, शोषणकारी व्यवसाय, मिलावटी व्यापार, चरित्रहीन व्यवहार, चोरी-तस्करी, ईर्ष्या-द्वेष, अधर्माचरण, हिंसा और स्वार्थपूर्ण मनोवृत्तियों की टी.बी. ऊपर से हो रही हो तो उस जवान का बुढ़ापा भी टिकेगा या नहीं—यह शंकाभरी दशा होती है। आज के भारत देश का कुछ ऐसा ही चित्रण है।

किन्तु कैसी भी दशा समाधान या संशोधन के योग्य न हो, ऐसा मैं नहीं मानता। 'जगे जब से ही प्रभात' की उक्ति को मान्य करके उपलब्धियों का भी मानवीय लेखा-जोखा लीजिये और अभावों तथा कमियों की भी जांच-परख कीजिये, तब रोग का प्रकार और मूल अवश्य पकड़ में आ जायेगा। निदान हो जाय तो फिर चिकित्सा की विधि भी सूझ जायेगी। बड़ी बात यही है कि स्वस्थ होने की भावना प्रबल हो क्योंकि सन्त जन आपको सच्ची चिकित्सा की विधियाँ, उचित औषधियाँ आदि सब बताते आ रहे हैं। जरूरी यह है कि रोगी चिकित्सक के साथ सहयोग करे। यह भी समझने की बात है कि इस रोग को भीषण और घातक बनाने वाली वृत्ति है स्वार्थ की वृत्ति, जो राष्ट्र, समाज, ग्राम, नगर और मानव कल्याण की उपेक्षा करके सत्ता और पूंजी के माध्यम से रोग का विस्तार करती चली जा रही है। अतः सभी उपायों से स्वार्थ की वृत्ति पर तीव्र अंकुश लगाना प्राथमिक कर्त्तव्य माना जाना चाहिये। पद और धन की लालसाओं तथा अहं की कुंठाओं को राष्ट्र की झोली में उत्सर्ग कर देना चाहिये तथा राष्ट्र प्रेम एवं भाईचारे के रंग में डूबकर त्यागमय सेवा अपनानी चाहिये। शरीर रोगी बना है तो रोग का कारण उसके भीतर ही है और उसके निवारण का उपाय भी वहीं से करना होगा। देश किसी एक का नहीं, इसके सभी नागरिकों और निवासियों का है, इस कारण मूल की भूल जांचने, सुधारने और नये उत्साह से नीतिमय निर्माण करने का कर्त्तव्य भी सभी का है, सामूहिक है।

सामूहिक शक्ति के मर्म को समझें

1947 से पहले कई वर्षों से भारतीयों के हाथों में उनके ही देश का शासन तंत्र नहीं था। उसके लिए उन्होंने आन्दोलन किया और अहिंसात्मक आन्दोलन किया तब स्वतंत्रता मिली। यह उपलब्धि सामूहिक शक्ति के संघर्ष का ही सफल परिणाम थी। उसके बाद की व्यवस्था पर सामूहिक रूप से ही चिन्तन चलना चाहिये, लेकिन जैसा होना चाहिये था, शायद वैसा नहीं चला। सोचने की मूल बात यह थी कि कार्य ही सबकुछ नहीं है। कारण को मजबूत बनाना चाहिये

था जो सामूहिक शक्ति के मर्म को समझने से ही संभव हो सकता था। सोचिये कि आप हलुआ खा रहे हैं और स्वाद में खारापन आया है तो यही निर्णय लेना होगा कि शक्कर के बूरे की जगह नमक गिर गया है, इसलिये अब आगे नमक नहीं गिरना चाहिये।

देश की वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में भी इसी प्रकार वास्तविक कारणों को ढूँढ़ने की जरूरत है। समाज के समूह से देश बना और समाज परिवारों के समूह से बना। फिर परिवार क्या है—व्यक्तियों का समूह ही तो? यदि एक परिवार के व्यक्तियों को छिन्न-भिन्न कर दें तो क्या परिवार का अस्तित्व बच पायेगा? इसी प्रकार परिवारों के बीच ईर्ष्या-द्वेष की खाई चौड़ी होती रही तो क्या समाज का सुगठित ढांचा खड़ा रह सकेगा? और समाज परस्पर सहयोगी होने के बजाय निरन्तर संघर्षशील बन गये तो देश की एकता का महल किस नींव पर टिका रहेगा?

कारण खोजने की दृष्टि से दो प्रकार की विधियां काम में ले सकते हैं—एक ऊपर से और दूसरी नीचे से। नीचे का मतलब है मूल में संशोधन। विधि निर्माण संस्थाओं में बैठकर कानून पास करना, विधि विधान बनाना, उन्हें जनता पर लागू करना आदि। यह सब ऊपर से थोपने जैसा संशोधन है। दूसरी विधि यह कि व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को नैतिकता से युक्त समृद्ध बनाया जाय और नीचे के घटक व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज और राष्ट्र में राष्ट्रीयता की सुदृढ़ भावना जगाई जाये। यह नीचे से चलने वाला संशोधन है। जब नीचे से सुधार होगा तो प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करेगा कि मैं स्वतंत्र हूँ। इसके विपरीत उसे पग-पग पर प्रशासन तंत्र में यह अनुभव होता हो कि वह अपने प्रत्येक कार्य (सिवाय मतदान के—जो भी प्रलोभन और भय का विषय होता जा रहा है) में प्रशासन तंत्र पर आधारित है तो उसमें परतंत्र भाव जमा रहेगा, और वह स्वतंत्रता का स्वतंत्र अनुभव नहीं ले सकेगा।

वास्तव में एक स्वतंत्र देश में भी स्वतंत्रता का भाव वहां विलीन जैसा हो जाता है, जहां पर सामूहिक शक्ति का मर्म भुला दिया जाता है तथा सामूहिक हित की भावना से दूर हटकर अपने निजी लाभलाभ पर ही सारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है। ऐसी स्थिति कब पैदा होती है? जब मनुष्य के मन में दबा हुआ अहंकार और ममत्व सांप के फन की तरह गंभीर रूप से सक्रिय बन जाते हैं। यह अहंकार और ममत्व की भावना समूह में नहीं होती, व्यक्ति में ही होती है। व्यक्ति के ही मस्तिष्क में ऐसा घुन लगा होता है कि दूसरों को नीचा दिखाकर मैं अपने निजी व्यक्तित्व को ऊपर उठाऊं तथा अधिकाधिक धन सामग्री अपने

और अपनों के ही लिये संचित करूँ। इस प्रकार तब अहंकार और ममत्व दोनों आक्रामक बन जाते हैं, जो सामूहिक शक्ति को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, तोड़ देते हैं। इसलिये सामूहिक शक्ति के मर्म को समझकर उसके लिये व्यक्तिगत निष्ठा कार्य—तत्पर बनायी जानी चाहिए।

आत्मानुशासन जुड़े राष्ट्र से

राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इस निष्ठा के साथ विचार करे कि क्या वह आत्मानुशासन सहित सुदृढ़ व्यक्तिगत जीवन जीते हुए राष्ट्र के साथ जुड़ा हुआ है तथा राष्ट्रीय कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन कर रहा है? अथवा वह केवल भेड़ चाल की दृष्टि से ही जी रहा है और आपाधापी में अपनी सारी ताकत बर्बाद कर रहा है? उसे इस तथ्य पर गहराई से सोचना चाहिये कि यदि उसका जीवन, जीने की सच्ची कला के साथ जीया जायेगा तो उससे उसका परिवार प्रभावित होगा, एक परिवार से दूसरे परिवार प्रभावित होंगे। इसी प्रकार पूरा समाज और राष्ट्र प्रभावित होगा। सभी क्षेत्रों में स्वतंत्र दृष्टि के अनुसार अपने अधिकारों के प्रति सजगता भी रहेगी तो अपने कर्तव्यों के पालन के प्रति अटूट निष्ठा भी। यों एक व्यक्ति पूरे राष्ट्र से जुड़ा हुआ रहेगा तथा उसके प्रत्येक क्रिया-कलाप का प्रभाव राष्ट्रीय गतिविधियों पर पड़ेगा। उस अवस्था में प्रत्येक नागरिक को यह गौरव होगा कि वह स्वतंत्र है तथा अपने राष्ट्र के कार्य संचालन में बराबर का भागीदार भी है। इस अनुभव के साथ वह अधिक से अधिक आत्मानुशासित भी बनता चला जायेगा।

प्रत्येक नागरिक का राष्ट्र के साथ अपना आत्मानुशासन जितनी सुदृढ़ता से जुड़ जायेगा उतना ही राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व निर्वाह में वह अधिक जागरूक बन जायेगा। वह सोचेगा कि जिस राष्ट्र में उसने जन्म लिया है, जहां के अन्न-जल से उसका शरीर बना है तथा जहां की शिक्षा-दीक्षा से सुसंस्कारित बनकर उसने उन्नति की ओर कदम बढ़ाये हैं—उस राष्ट्र के प्रति उसका कर्तव्य सर्वोच्च है। उसका यही दायित्व बोध समुन्नत बनकर सारे विश्व को एक परिवार मानकर चल सकता है। तब वह राष्ट्र तक ही सीमित न रहकर विश्व शान्ति के प्रति अपने कर्तव्यों के प्रति भी सजग हो जायेगा।

सामूहिक हित साधना का चिन्तन

आप यह कभी न सोचें कि हम केवल अपने आप में ही समाये हुए हैं। दूसरों के साथ जैसे हमारा कोई सम्बन्ध या उत्तरदायित्व ही नहीं है। ऐसा सोचना सही चिंतन नहीं है। यह मानकर चलिये कि हमारा जीवन एकाकी नहीं है बल्कि

सबके साथ सामूहिक रूप से भी सम्बन्धित है। अतः चिन्तन यह करना चाहिये कि उन सबके साथ कितना कैसा कर्तव्य है तथा सामूहिक हित साधना के प्रति हमारा कितना उत्तरदायित्व है?

स्वतंत्रता की वर्षगांठ के प्रसंग से इस प्रकार का चिन्तन ही सभी विवेकशील नागरिकों के लिये आचरणीय है। यह चिन्तन सिंहावलोकन की तरह होना चाहिये। भारतीय दर्शन में सिंहावलोकन को लाभप्रद प्रयोग बताया गया है क्योंकि एक असली शेर व्यर्थ की बार-बार हिंसा नहीं करता है। किसी ऊँचे स्थान से सरसरी तौर पर सब ओर नजर घुमा लेता है कि उसे शिकार कहां मिल जायेगा। बस वह अपनी आवश्यकता पूरी करके शान्त हो जाता है। अतः राष्ट्र की अवस्था के प्रति सिंहावलोकन का यह अर्थ होगा कि आप किस उल्लासमय भावना से अपनी शारीरिक, मानसिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि की स्वतंत्रता की क्षुधा को तृप्त करने के लिये क्या सही रास्ते पर चल रहे हैं अथवा भटकाने में गिर गये हैं? सरसरी तौर पर ऐसी समीक्षा नागरिक को सही रास्ते से दूर भटकाने नहीं देगी।

तात्पर्य यह है कि इतने समय के सारे कार्य कलापों का, उन्नति के प्राप्त साधनों का तथा पतन की आशंकित परिस्थितियों का इस वर्षगांठ के अवसर पर अवलोकन कर लेना चाहिये तथा राष्ट्रीय जीवन में जो भी दोष और विकार दिखाई दें, उन्हें सामूहिक प्रयास से दूर करने का दृढ़ संकल्प ग्रहण करना चाहिये। तभी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को स्वस्थ एवं गतिशील बना सकेंगे। कारण, राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रमुख आधार सामूहिक हित होना चाहिये। सबमें एक और एक में सब समाकर राष्ट्रीय एकता की मजबूत दीवार खड़ी की जा सकती है।

बाह्य एवं आन्तरिक स्वतंत्रता को समान महत्त्व दें

अब तक भारतवासियों ने बाहरी स्वतंत्रता को तो फिर भी महत्त्व दिया है किन्तु आन्तरिक स्वतंत्रता के प्रति उनका पूरा ध्यान ही नहीं गया है, तदनुसार आचरण की बात तो दूर है। इस सत्य को समझ लेना चाहिये कि बाह्य स्वतंत्रता यदि दीर्घकाल तक टिक सकेगी तो वह आन्तरिक स्वतंत्रता की सुदृढ़ नींव पर ही टिक सकेगी। इसलिये प्रारंभ में आन्तरिक स्वतंत्रता को समझपूर्वक अधिक महत्त्व न दे सकें तो ठीक लेकिन बाह्य एवं आन्तरिक स्वतंत्रताओं को समान महत्त्व तो अवश्य ही देकर आगे कदम बढ़ावें।

सतर्क रहिये कि इस आन्तरिक स्वतंत्रता को हिलाने, गलाने और नष्ट करने वाला जो घुन होता है वह घुन होता है अहंत्व और ममत्व का घुन। यदि मन के

सिंहासन पर आपने इस घुन को बिठा दिया तो समझिये कि आप ममत्व, मोह, आसक्ति और स्वार्थ के ऐसे कठिन बंधनों में बंध जायेंगे जिस दिशा में सामूहिक और राष्ट्रहित तो दूर की बात, अपने निज के वास्तविक हित को भी भुला बैठेंगे। किसी भी प्रकार की ममता जब तक प्रबल रहती है, तब तक समता का स्वरूप भी समझ में नहीं आता है और समता का ज्ञान व कार्यान्वयन नहीं तो आन्तरिक स्वास्थ्य कहां से आयेगा? अतः भारतवासियों को आन्तरिक स्वास्थ्य लाभ करते हुए राष्ट्रीय स्वतंत्रता के सर्वांगीण स्वरूप को सुरक्षित बनाना चाहिये। जहां तक हमारा दूसरे राष्ट्रों के साथ व्यवहार हो, वह तटस्थ और हंस बुद्धि का होना चाहिये कि सबसे ऊपर हम सत्य को सत्य मानें तथा असत्य को असत्य। तभी भारतीय दृष्टि पुनः से हेम चन्दनवत् समीक्षण बन जायेगी।

राष्ट्रीय कर्तव्यों में दोहरापन घातक

राष्ट्रीय कर्तव्यों में दोहरापन यानी कि कथनी और करनी का भेद सामूहिक हित के लिये बड़ा ही घातक होता है। आप देखते होंगे कि कई महानुभाव किसी भी प्रकार जनता के अभिमत को प्राप्त करके ऊँचे-ऊँचे पदों तक पहुँच जाते हैं तथा प्रशासन तंत्र को चलाने वाले मुख्य पुर्जे बन जाते हैं। इनमें से कई लोग शायद इस तरह का दिखावा करते हैं कि वे पक्के राष्ट्रभक्त नेता हैं किन्तु उस दिखावे भरी कथनी के विरुद्ध उनकी करनी भीतर ही भीतर आप स्वार्थी और राष्ट्रघाती बन जाती है। जो भी विभाग उनकी जिम्मेदारी में छोड़ा जाता है, वे यही कोशिश करते हैं कि बाहर का दिखावा रखते हुए उस विभाग के कार्यों और आदेशों से अपना कितना मतलब साध लिया जाय। सामान्य जनता यह नहीं समझ पाती कि नेता अपने राष्ट्रीय कर्तव्यों को समझकर राष्ट्रहित को ही महत्त्व दे रहे हैं या निजी स्वार्थी को।

व्यक्तिगत चरित्र के ऐसे दोहरापन ने ही क्या भारतीय परिस्थितियों को रसातल तक नहीं पहुँचा दिया है? जनता उनमें अपना पूरा विश्वास निहित करती है और आशा रखती है कि उनके हाथों उसकी उन्नति होगी परन्तु निन्दनीय वस्तुस्थिति है कि वे ही इस प्रकार की स्वार्थी कार्यवाहियाँ चलाते हैं। सोचने और निर्णय लेने की बात है कि क्या ऐसे दोहरे चरित्र वाले नेता और अफसर वस्तुतः राष्ट्र धर्म के पालक हैं? आज छोटा व्यापारी नासमझी से छोटी सी भूल भी कर देता है तो उसका फौजदारी चालान कर दिया जाता है और उन नेताओं तथा अफसरों का क्या कुछ भी बिगड़ता है जो लाखों-करोड़ों का जनधन डकार जाते हैं?

एक बार की बात है कि एक छोटा व्यापारी स्व. आचार्य श्री गणेशलाल जी म.सा. के पास आकर रोने लगा कि कन्ट्रोल की दुकान में उससे गिनती की भूल के कारण एक ग्राहक से बारह आने की जगह बारह आने और दो पैसे वसूल हो गये जिस पर चैकिंग के वक्त दो पैसे की चोरी का इल्जाम लगाकर उसका फौजदारी चालान कर दिया गया है। इतना ही नहीं, सही बात बताने के अपराध में अधिकारी अधिक रुष्ट हो गया और उसे हथकड़ी लगाकर गिरफ्तार किया गया। मान लें कि उस गरीब आदमी ने दो पैसे की चोरी की, लेकिन उसे चैक और गिरफ्तार करने वाले अफसरों का हाल भी कोई पूछने वाला मिलता है क्या? ये अधिकारी भी पहले उस व्यापारी जैसे गरीब ही रहे होंगे— फिर उनके बंगले कैसे बन गये, कारें कहां से आ गईं और थोड़े ही वर्षों में सब कुछ वैभव कैसे फैल गया? ऐसे नेता और अफसर राष्ट्र धर्म की आराधना करने वाले हैं या विराधना?

(सभी एक स्वर से— विराधना करने वाले हैं)

आज ऐसे स्वार्थी महानुभाव भारत की जनता के बीच में हैं और ऊँचे पदों पर आसीन हैं तो क्या वे राष्ट्र के, समाज के, परिवार और व्यक्ति के तथा आत्मा और परमात्मा के प्रति वफादार हैं?

राष्ट्र प्रेम और स्वतंत्रता की दिशा ऐसी होती है

दूसरे देशों की घटनाएँ पढ़ने को मिलती हैं कि उन देशवासियों के मन में अपने देश के प्रति कितना गौरव भरा प्रेम होता है? जापान की एक ऐसी ही घटना का ध्यान आ रहा है। एक भारतीय यात्री जापान में घूम रहा था तभी उसे कुछ फल की आवश्यकता हुई। उसे वहां फल कहीं मिला नहीं तो खुले आम जापान की आलोचना करने लगा कि कैसा निकम्मा देश है जहां पर यह फल तक नहीं मिलता? यह आलोचना पास में खड़े एक साधारण जापानी मजदूर से सही नहीं गई। वह भागा और अपने घर से वह फल ले आया जो उसने अपने बाल बच्चों के खाने के लिये मंगाये थे। वे फल उस भारतीय को भेंट करते हुए उसने बड़ी नम्रता से कहा—महाशय, किसी छोटी सी बात के लिये पूरे महान् देश की आलोचना करना शोभास्पद नहीं है। आपको कष्ट हुआ जिसके लिये मैं सारे देश की ओर से आपसे क्षमा चाहता हूँ।

ऐसी होती है राष्ट्र प्रेम और स्वतंत्रता की दिशा—जिस दिशा में चलने वाला राष्ट्र प्रेमी अपना सबकुछ निछावर कर सकता है किन्तु अपने देश की निन्दा का एक शब्द भी नहीं सुन सकता है। व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर वह

परिवार हित को मानता है और उससे ऊपर समाज हित व राष्ट्रहित को किन्तु राष्ट्रहित की कीमत पर विश्व शान्ति की साधना भी वह करता है।

आज भारत देश में ऐसे ही राष्ट्र प्रेम और ऐसी ही स्वतंत्रता की दिशा में आगे बढ़ने की जरूरत है ताकि सारे देश में गरीबी, अशिक्षा, बीमारी और अनैतिकता की जो त्राहि-त्राहि मची हुई है उसे शान्त किया जा सके और राष्ट्र के पीड़ित वर्गों में विकास की एक नई आशा और आकांक्षा जगायी जा सके। तभी आन्तरिक स्वास्थ्य के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा की जा सकेंगी तथा व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक के जीवन का समुचित परिमार्जन किया जा सकेगा।

दिनांक 15.08.86

(जलगांव)

9

आपका भाव्य आपके हाथ

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे...

मानव के समक्ष दो बातें स्पष्ट रीति से परिस्फुरित होती हैं। एक तो यह कि वह कम से कम बुरे फल को नहीं चाहता। दूसरे, वह कर्म करने से भी पीछे नहीं हटता। जब कर्म करता है तो कर्म का फल अवश्यभावी है। कर्म करे और कर्म का फल नहीं चाहे—ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं।

कर्म करना आत्मा के अधीन होता है। कोई आत्मा यदि यह चाहती हो कि मुझे अमुक प्रकार का फल नहीं चाहिये तो उसके फल के नहीं मिलने का एक ही उपाय है कि वह उस फल से सम्बन्धित कर्म ही न करे। यह नहीं हो सकता कि वह कर्म तो बिना सोचे समझे कर ले और फल भोग के समय इच्छा-अनिच्छा प्रकट करे। कोई भंग पी ले और चाहे कि उसका नशा नहीं आवे तो यह शक्य नहीं है।

कर्म और फल अन्योन्याश्रित

जब यह चैतन्य देव अपने स्वभाव को पहचान लेता है, अपने स्वरूप का विज्ञान कर लेता है, तब उसे अपने अस्तित्व का सम्यक् ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। किन्तु उस सम्यक् ज्ञान की वास्तविकता भी जांच-परख के बाद ही प्रकट हो सकती है। समझिये कि ऐसी आत्मा यदि कर्म नहीं करना चाहे किन्तु फल की कामना करे तो क्या सहज ही यह प्रश्न नहीं उठेगा कि यह कैसा सम्यक् ज्ञान है जो कर्म तो करना ही नहीं चाहता लेकिन फल की इच्छा कर लेता है? सम्यक् ज्ञान की मार्मिक विशेषता को समझने वाला इस तथ्य को भी इस प्रकार स्पष्ट करता है कि वह अपने किये हुए कर्मों के फल को समभाव से क्षय करने का प्रयास करता है पर नये कर्म नहीं करता।

श्री गजसुकमाल मुनि का उदाहरण सुगम्य है। जिस दिन उन्होंने दीक्षा

ग्रहण की, उसी दिन उन्होंने अरिष्टनेमि प्रभु से अनुमति चाही कि वे भिक्षु की 12वीं प्रतिमा धारण करना तथा रात्रि में श्मशान के अन्दर एकाकी ध्यानस्थ होना चाहते हैं। भगवान् अरिष्टनेमि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। वे अपने ज्ञान में अवलोकन कर रहे थे कि यह भव्य जीव यद्यपि आज ही दीक्षित हुआ है फिर भी क्यों इतना कठोर तप अपनाना चाहता है? दूसरे शब्दों में कहें तो गजसुकमाल दुष्कर करणी करने जा रहे थे। इसकी महत्ता को नहीं समझने वाले कहते हैं कि वे तो अपनी आत्मा को कष्ट देने के लिये जा रहे थे। वे यह भी तर्क उठाते हैं कि यह कैसा धर्म है जो एक ओर तो अहिंसा की बात करता है और दूसरी तरफ अपनी ही आत्मा को संकट में डालने के लिये श्मशान में ध्यानस्थ होने की घटना का समर्थन करता है? यह कैसा तप और यह कैसा ध्यान? यह प्रश्न कई नौजवानों के मन में भी उभर सकता है जो कम समझ से उपवास आदि तपश्चर्या को भी कष्ट स्वरूप मानकर हिंसा की संज्ञा दे देते हैं।

वस्तुतः यह तपश्चर्या हिंसा नहीं, अहिंसा है। यह दुःख देने वाली आराधना नहीं, सुखों का सुन्दर भविष्य रचने वाली आराधना है। उस वेला को शुभ वेला समझिये जब किसी भी प्रकार की तपश्चर्या करने का संकल्प बनता है। तप अज्ञान नहीं, ज्ञान का आलोक होता है। इसको उसी सम्यक् ज्ञान के दर्पण में देखना और जानना चाहिये। इसके संदर्भ में यह सत्य स्पष्ट हो जाना चाहिये कि कर्म और फल का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। जैसा करोगे, वैसा भरोगे। कर्म किया है तो उसका फल भोगना ही पड़ेगा। नये कर्म नहीं करोगे तो नया फल नहीं होगा। कर्मों को नष्ट करने में इस तपश्चर्या का प्रधान योग रहता है जिससे भावी फल की स्थिति समाप्त हो जाती है। गजसुकमाल मुनि के उदाहरण में यही स्थिति सामने आ रही है।

प्रमाद हटाइये, कर्मबंध को रोकिये

मुनि गजसुकमाल दीक्षा वाले दिन ही भगवान् की आज्ञा लेकर श्मशान गये। वे पूर्णतया सम्यक् दृष्टि थे। उनके अन्तर्हृदय में सम्यक्त्व का प्रकाश फैला हुआ था। उनकी आयु भले कम थी, किन्तु चारित्रिक दृढ़ता अपूर्व थी। तभी तो वे भगवान् के पहली बार दर्शन करने को गये और प्रथम दर्शन में ही उन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। यही नहीं, दीक्षा के प्रथम दिन ही वे भिक्षु प्रतिमा जैसे कठोर तप का आचरण करने के लिये भी तत्पर बन गये। उनके इस आचरण को यों विश्लेषित किया जा सकता है कि वे नया कर्म करना नहीं चाहते थे और पूर्वार्जित कर्मों को एक ही झटके में नष्ट करके मोक्ष का पूर्ण फल प्राप्त कर लेने

के अभिलाषी बन गये थे। जो सम्यक् ज्ञानी हो जाते हैं, वे आस्रव की क्रियाओं में एक भी समय नहीं गंवाना चाहते क्योंकि वे यह जानते हैं कि कर्म बंध की प्रक्रिया वे एक-दो नहीं, कई जन्मों से करते आये हैं और अब उसे तत्काल निरुद्ध कर देने के पुरुषार्थ में जुट जाना चाहिये।

सम्यक् ज्ञान की वास्तविक प्रेरणा यही होती है कि प्रमाद को तुरन्त दूर कर लीजिये और कर्मबंध को शीघ्रातिशीघ्र रोकने का प्रयास कीजिये। ऐसा दुर्लभ मानव जीवन, उच्चकुल, सन्त समागम आदि अनुकूल साधन बार-बार उपलब्ध नहीं होते हैं। ये दुर्लभ प्राप्तियां जब भी हो जाएं, उनका तत्काल सदुपयोग करने का यत्न आरंभ कर देना चाहिये। यदि इनका सफलतापूर्वक सदुपयोग कर लिया और कर्मबंध की शृंखला को अवरुद्ध कर दिया तो समझिये कि परम फल सुलभ करने का अवसर समीप आ गया है। भगवान् महावीर ने यही संदेश गौतम स्वामी के माध्यम से सम्पूर्ण जगत् के सकल जीवों को दिया है कि—

‘समयं गोयम, मा पमायए’

अर्थात् हे गौतम, एक समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो। एक समय आप जानते हैं कि काल का अति सूक्ष्म घटक होता है। एक समय के लिये भी प्रमाद न करने का भगवान् का आदेश है तो क्या इस आदेश का आप पालन कर रहे हैं? दिल पर हाथ रखकर सोचिये कि इस बारे में आप कितने जागरूक हैं? समय को तो छोड़िये, मिनटों और घंटों को भी छोड़िये, दिनों व महीनों को भी छोड़िये—क्या वर्षों का भी आपको खयाल है कि प्रमाद त्यागने की बात आप सोचते हैं? कितने वर्षों की आयु हो गई है आपकी और कितना प्रमाद आपने त्यागा? क्या लेखा-जोखा दे सकते हैं मुझे? अधिक न कहकर यही चेतावनी देना चाहता हूँ कि गई सो गई—अब तो चेतिये और कम से कम घंटों-दिनों का हिसाब तो कीजिये।

ध्यान में रखिये यह बात कि एक समय के प्रमाद में भी जो कर्म बांधा जायेगा, उसका फल कई समयों तक भोगना होगा। फिर उसकी शृंखला इतनी लम्बी हो सकती है कि उसके उदय और फल भोग में कई जन्म निरर्थक हो जायें।

जितना प्रमाद, उतना कर्मबंध

मुनि गजसुकमाल ने एक समय का भी प्रमाद करना उचित नहीं समझा। उनका विचार था कि जितना प्रमाद होगा उतना ही कर्मबंध बढ़ेगा। उन्होंने तो निश्चय किया है कि जो पहले का कर्मबंध है, उसे नष्ट करने में भी एक समय का विलम्ब न किया जाय। भिक्षु प्रतिमा जैसी कठोर तपश्चर्या से आत्मा

को तपाकर कुन्दन बना दें। भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे। उन्हें ज्ञात था कि गजसुकमाल चरम शरीरी हैं अतः उसे अपने आत्म कल्याण के पथ पर आगे बढ़ने दिया जाय।

कभी कोई भाई यह पूछ बैठते हैं कि गजसुकमाल को दीक्षा लेने की क्या आवश्यकता थी? वे सीधे घर से श्मशान जाकर भिक्षु प्रतिमा धारण कर सकते थे। वे यह तथ्य शायद भूल जाते हैं कि बिना प्रमाद हटाये और बिना नवीन कर्मबंध को रोके पहले के बंधे हुए कर्मों का एक साथ विनाश नहीं किया जा सकता है। यदि गृहस्थाश्रम में रहते रहेंगे तो नये कर्मबंध का अवरोध नहीं हो सकेगा क्योंकि सांसारिकता में रहते हुए आस्रवयुक्त क्रियाएं रुकती नहीं हैं। इस कारण पहले साधु-धर्म अंगीकार करके इस कठिन तपश्चर्या की पृष्ठभूमि बनानी होती है, क्योंकि दीक्षा ग्रहण करके साधु बनने का तात्पर्य यह है कि नवीन कर्मों के करने और बंधने के जो दरवाजे हैं, वे बन्द कर दिये जाते हैं।

आज की दुनिया का चलन कुछ ऐसा हो गया है कि कर्म करते समय तो कोई विवेक और मान नहीं रखा जाता है लेकिन जब कर्म के फल भोग का समय आता है तब बुरी तरह से हाय विलाप किया जाता है। यही नहीं, उन पूर्वार्जित कर्मों का फल भोगते हुए उस समय की अपनी असन्तुलित मानसिकता से भोगे गये कर्मों से अधिक नये कर्मों का बंध कर लेते हैं। यह सब प्रमाद पूर्वक होता है। यह दुनिया कर्म फल से तो डरती है पर कर्म करती रहती है और पापास्रव को रोकती नहीं है। फिर चाहती है कि जो कुछ भी किया गया है, उसका कुफल उसे नहीं मिलना चाहिये। अफीम खाने वाले को उसका नशा चढ़ेगा ही। उसी प्रकार जैसा किया जायेगा, वैसा भरना पड़ेगा।

मेरे कोई श्रद्धालु भाई यदि ऐसा सोचते हों कि जाकर महाराज सा के दर्शन कर लेंगे तो पाप कर्म जो भी किये हुए हैं, उनका कुफल हमें नहीं भोगना पड़ेगा तो वे इस पर गंभीरता से सोचें। धार्मिक क्रियाओं की आराधना के पुण्य बंध की बात अलग हो सकती है किन्तु पूर्व के पाप कर्मों का कुफल तो भोगना ही पड़ेगा या कठिन तपश्चर्या के आचरण से निर्जरा द्वारा उन्हें नष्ट ही किया जा सकता है। मूल बात यह है कि ऐसे किसी महान् निश्चय के पूर्व में नवीन कर्मों के बंध का अवरोध किया जाना आवश्यक है तथा उस प्रकार का अवरोध दीक्षा ग्रहण करके साधु बनने पर ही सफलतापूर्वक किया जा सकता है। साधु बनने का अर्थ यह भी है कि प्रमाद सेवन घटाया जाय, समाप्त किया जाय तथा आत्मिक तत्परता पूर्णतः सजग बन जाय।

कर्म फल भोग के सम्बन्ध में एक बात और समझ लीजिये कि आपके

विषय में जो दुनिया जानती है उतना ही पाप कर्म नहीं है। जो आपसे गुप्त पाप कर्म होता है, उसका कर्म बंध भी होता है। चाहे आपके किसी पाप कर्म को कोई देखे या नहीं। यों मानिये कि आपकी आत्मा तो उसे देखती ही है इस कारण कोई पाप कर्म गुप्त नहीं होता। अब कोई उन बुरे कर्मों को करते रहने से तो बाज नहीं आवे और चाहे कि उन बुरे कर्मों का फल नहीं मिले इस हेतु महाराज के पास चले चलें। ऐसा अधिकांश लोग चाहते हैं पर यह चाह अनुचित है।

बंधे हुए कर्मों के फल भोग की प्रक्रिया

बंधे हुए कर्मों के फल भोग की प्रक्रिया को गहराई से समझने वाला सच्चा सम्यक् दृष्टि कभी भी ऐसी अनुचित चाह नहीं करता है। वह तो पूर्वार्जित कर्मों के फल को समभाव के साथ भोग लेना चाहता है ताकि उसकी आत्मा कर्म भार से हल्की बन सके। वह यह भावना रखता है कि नये कर्मों का बंध नहीं करूं और उसके साथ ही जो पुराने कर्म बंधे हुए हैं उनका फल मैं अपनी आत्म-जागृति के समय में ही प्राप्त कर लूं जिससे फल भोग में समभाव बना रहे। समभाव के अभाव में फल भोग तो कठिन होता ही है दुःख और अनुताप के कारण नवीन कर्मों का बंध ऊपर से हो जाता है।

कर्म और फल भोग की प्रक्रिया को बारीकी से समझ लें तो आपको लगेगा कि कर्म एक मैल है, गन्दा आवरण है जिसने आत्मा के तेज को ढक रखा है। जब तक इसे दूर नहीं कर दिया जायेगा—आत्मोत्थान की लगन लगी हो तो आप उस मैल को दूर करने में एक समय का भी प्रमाद नहीं करना चाहेंगे। आपके इस बाहरी शरीर पर भी कहीं थोड़ा सा मैल या अशुद्धि लग जाय तो वह आपको रुचती नहीं है। आप उसे तुरन्त दूर कर देना चाहते हैं। इसके रहते आपको किसी से बात करना या खाना-पीना भी रुचता नहीं है। सोचिये कि आप शरीर के मैल के लिये तो इतने चिन्तित हो जाते हैं किन्तु अपनी आत्मा के मैल को दूर करने के लिये कितनी चिन्ता कर रहे हैं?

विचार कीजिये कि यह शरीर तो मिट्टी से बना है और एक दिन मिट्टी में ही मिल जाने वाला है, फिर भी उसको धोने का तो आप विवेक रख लेते हैं लेकिन यह नहीं सोचते कि आत्मा पर लगे हुए कर्म मैल को दूर किये बिना तथा नये आते हुए मैल को रोके बिना इस आत्मा को आप सम्यक् दृष्टि कैसे बनायेंगे, कैसे उसके चरम विकास के मार्ग को प्रशस्त करेंगे?

आत्मा पर लगे कर्म मैल को धोइये

आत्मा पर लगे मैल को धोने का अर्थ यही होता है कि पूर्व कर्मों के

बंध को नष्ट किया जाय। पहले के वक्त में पानी के नल नहीं हुआ करते थे। पानी कुएं से खींचकर निकालना पड़ता था। उससे शरीर को काफी कष्ट होता था फिर भी शरीर के मैल को साफ करने का कार्य होता था तो शरीर को कष्ट देकर कुएं से जो पानी निकाला जाता था और शरीर साफ किया जाता था, क्या वह आत्महत्या के समान माना जाता था जैसा कि आज कई लोग तपश्चरण के सम्बन्ध में कह देते हैं। तपश्चरण आत्महत्या का साधन नहीं, आत्मा को निर्मल बनाने का सबल माध्यम होता है। अतः आत्मा पर लगे कर्म मैल को धोने में तनिक भी प्रमाद नहीं किया जाना चाहिये। क्या ज्ञात हो जाने के बाद गजसुकमाल ने तनिक भी प्रमाद किया? प्रमाद तो नहीं ही किया, बल्कि इतनी आत्म-तत्परता बरती कि उन्होंने एक ही बार में भव-भवों के बंधन काट दिये।

प्रार्थना की पंक्तियों में भगवन् वासुपूज्य को उद्देश्य बनाकर कहा गया है कि भगवान्, आपने वन प्रदेश में विचरण किया, तप आराधना और भयंकर कष्ट सहे। यह उनकी कष्ट सहिष्णुता और आत्म कल्याण की सराहना है या आत्महत्या के प्रयास का विवरण? कष्ट सहिष्णुता का अर्थ आत्म-हत्या नहीं होता, उसका उद्देश्य होता है कि इस शरीर का मोह भी समाप्त हो जाय और आत्मा आत्म-तल्लीन बन जाय। इस प्रकार कष्ट सहिष्णुता एवं तपश्चर्या से आत्मा के कर्मावरण नष्ट होते हैं तथा उसके लिये शाश्वत शान्ति का द्वार खुल जाता है।

गजसुकमाल मुनि ने भी इसी पथ का अनुसरण किया कि आत्मा पर लगा कर्म मैल पूरी तरह से धुल जाय। भगवान् ने स्पष्ट फरमाया है कि किये हुए कर्मों को भोगे बिना मोक्ष नहीं हो सकता है। आप लोग मेरी बात पर आज ध्यान दें या कल, लेकिन प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि जितना उससे हो सके, वह नवीन कर्मों के बंध को रोकने का यत्न करता रहे।

समझें कि एक आदमी करोड़ों रुपयों का कर्जा लेकर चल रहा है, सिर्फ वह उसका ब्याज चुकाता रहता है। हिसाब लगाइये कि उसका ब्याज कितना होता है? उसको वह ब्याज चुकाने के लिये ही कितना परिश्रम करना पड़ेगा? उसके बाद क्या वह इतना कमा पायेगा कि अपने परिवार का निर्वाह-व्यय भी भली-भांति चला सके? ऐसा व्यक्ति क्या नया कर्ज लेते रहने का दुस्साहस कर सकेगा? पहले के कर्ज का ब्याज और निर्वाह व्यय ही मुश्किल हो रहा है तथा मूल कब चुकेगा, उसका पता नहीं— फिर वह नया कर्ज लेने का तो विचार भी नहीं करेगा। वह कोशिश यही करेगा कि अच्छी कमाई होती रहे तो पहले का मूल चुकाने लगे। यही विवेक की बात भी है।

नवीन कर्म बंध को रोकिये

समझदार कर्जदार की तरह आप को भी अपना विवेक जगाना चाहिये। इन सांसारिक आत्माओं पर कितने भारी कर्म कर्जों का बोझ है और उनके द्वारा निरन्तर होती रहने वाली क्रियाओं में वह कर्मों का बोझ कितना बढ़ता जा रहा है? ऐसी दशा में नया कर्ज लेने की जोखिम नहीं उठाई जाय तो पहले के कर्ज के चुकता होने का अवसर भी आ सकता है। इसलिये नवीन कर्म बंध को रोकने की प्राथमिक आवश्यकता है।

यदि आज के मानवों को कहा जाय कि नया कर्ज मत लो तो इसके लिये कितने तैयार होंगे? पहले का पूरा कर्जा नहीं चुका सको तो वह दूसरी बात पर नये कर्जों पर जितनी रोक लगा सको, वह तो लगाओ। इसके लिये भी मेरे कई भाई तैयार नहीं होते हैं।

मुनि गजसुकमाल ने पुराने कर्म-कर्जों को चुकाने के लिये ही पहले तो नये कर्जों को एकदम रोक दिया और तुरन्त सारे पुराने कर्जों को एकमुश्त चुकाने के लिये भिक्षु प्रतिमा धारण कर ली। उसी रात अपने सिर पर धधकते अंगारों को अप्रभावित एवं समभाव से सहन करते हुए मोक्षगामी बन गये। असह्य कष्ट के बावजूद वे महामुनि तनिक भी विचलित नहीं हुए और समभाव में रमण करते रहे। उस समभाव ने उनकी भव्य आत्मा के लिये शाश्वत सुख शान्ति के द्वार सदा-सदा के लिये खोल दिये।

नवीन कर्म बंध को जहां तक रोकने का प्रश्न है, उसका श्रेष्ठ आचरणीय मार्ग साधु धर्म है किन्तु सकल प्रयास न बन सके तो आंशिक प्रयास ही प्रारंभ कर देना चाहिये। वह आंशिक प्रयास है श्रावक धर्म को अंगीकार करना। गृहस्थावस्था में रहते हुए यदि श्रावक के व्रतों का भी निष्ठापूर्वक पालन किया जाता है तो नवीन कर्म बंध को रोकने के प्रयास में काफी उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की जा सकती है। उसके साथ ही यथाशक्ति तपश्चरण आदि से पुराने कर्मों को क्षय करने के कार्य में भी समुचित तत्परता बरती जा सकती है।

प्रारंभ में मैं दो बातों का उल्लेख कर गया था जो कर्म बंध और कर्म फल भोग से सम्बन्धित थीं। नव तत्त्व के विज्ञान में ये दोनों बातें बंध तत्त्व के अन्तर्गत आती हैं और बंध तत्त्व को समझ कर ही आस्रव, संवर और निर्जरा तत्त्व का रहस्य समझा जा सकता है। जब संवर (नवीन कर्म बंध-अवरोध) के साथ निर्जरा (पूर्वार्जित कर्मों का क्षय) का प्रयोग सफल हो जाता है तब आत्मा के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा का कर्म से सम्बन्ध व बंध हेतु

आत्मा के लिये इस संसार में कर्म अपनी ही सन्तति के समान है जो अनादि काल से सम्बन्धित है। आत्मा सदा क्रियाशील रहती है और मन, वचन, काया के योग-व्यापार में प्रतिपल प्रवृत्ति करती रहती है। इससे उसके प्रत्येक समय कर्मबन्ध होता रहता है। पुराने कर्म उदय में आकर फल भोग देते हैं तथा नये कर्म बंधते रहते हैं।

इस कर्म बंध का मुख्य हेतु है देह। देह युक्त आत्मा के ही कर्म बंध होता है। आत्मा अदेही होकर सिद्ध बन जाती है। देह और कर्म का ऐसा सम्बन्ध है कि देह कर्म से ही मिलती है तथा इस देह से ही कर्म बंधते हैं। यही कारण है कि देह-मोह को त्यागने पर बल दिया गया है। देह-मोह तभी घटता है और आत्मानुभूति सबल बनती है जब देह को इच्छापूर्वक कष्ट दिया जाता है। तपश्चर्या को आप ऐसा कष्ट मान सकते हैं जो आत्मानुभूति को भी जगाता है तो नवीन कर्म बंध को रोककर पुराने कर्मों को क्षय करने के लिये भी सचेष्ट बनाता है। सोना और मिट्टी जमीन के भीतर आपस में मिले हुए रहते हैं किन्तु ताप आदि की रासायनिक क्रियाओं द्वारा सोने को शुद्ध रूप में अलग कर लिया जाता है। उसी प्रकार आत्मा और देह के संयोग में भी तपश्चर्या एवं उसके द्वारा निर्जरा के माध्यम से आत्मा के मूल रूप को प्रकाशित कर लिया जाता है।

आपका भाग्य आपके अधीन है

कर्म बंध और फल भोग की प्रक्रिया का सार संक्षेप यह है कि जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा। इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि आपका भाग्य आपके हाथ है, किसी अन्य शक्ति के अधीन नहीं। आज आप द्वारा किया हुआ कर्म ही आपके कल के भाग्य की रचना करता है। आज जो आपको अपना भाग्य दिखाई देता है, वह आपके ही बीते कल के कर्मों का फल है। इसलिये यदि भाग्य अच्छा है तो उस पर अभिमान मत करिये। प्राप्त सुख-सुविधा में संविभाग करके चलिये और यदि आज भाग्य बुरा है तो हाय विलाप करके नये कर्मों का बंध मत कीजिये। अपनी ही करणी के फल को जानकर सन्तोष कीजिये।

मूल बात यह है कि आज के फल भोग के समय पहले के बंध की जानकारी नहीं होती है अतः फल भोग चाहे अच्छा हो या बुरा समभाव से सहन किया जाना चाहिये ताकि नवीन कर्मों के बंध को रोका जा सके।

10

रूपान्तरण करें!

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे...

धर्मस्थल पर परमात्म-स्वरूप के विषय में अनुचिन्तन करने का भव्य अवसर है। अन्य-अन्य स्थलों पर उन स्थलों के नाम के अनुकूल कार्य सम्पन्न किये जाते हैं लेकिन जिसका नाम ही धर्म-स्थल बतलाया गया है, वहां तो धर्म से सम्बन्धित प्रक्रियाएं सम्पन्न होनी ही चाहिये।

धर्माराधन मानव की आन्तरिक वृत्तियों की जागृति का शुभ परिणाम होता है। इससे जीवन का भीतरी स्वरूप शुद्ध होता है तो यह शुद्ध स्वरूप स्वयं धार्मिकता के प्रमाण रूप में देखा जाता है। धार्मिक वृत्तियों को जब मानव अपने आन्तरिक जीवन में समा लेता है तथा प्रवृत्तियों के रूप में उसका बाह्य जीवन में प्रकटीकरण भी हो जाता है, तब वस्तुतः उस आन्तरिक एवं बाह्य प्रकाशः से उसका सम्पूर्ण जीवन जगमगा उठता है।

धर्म आन्तरिकता का आईना

सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करें तो निश्चित रूप से प्रतीत होगा कि धर्म आन्तरिकता का आईना होता है। धर्माराधना के समय अथवा एक धार्मिक व्यक्ति के दिन रात के सामान्य जीवन में उसकी आन्तरिकता का स्वरूप स्पष्ट झलक उठता है। यदि उसका धर्माराधन दिखाऊ या कि आडम्बरपूर्ण हो तब भी वैसी स्थिति समझ में आ जाती है और यदि उसके अन्तर्बाह्य जीवन में धार्मिकता की चमक पैदा हो गई हो तो वह दूसरों को प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

मनुष्य जीवन में अनेकानेक विशेषताएं हैं। उनमें से एक विशेषता यह है कि मनुष्य के मन की गहराई में जिस प्रकार के भावों का प्रस्फुटन होता है, उनका प्रतिबिम्ब उसके ही शरीर के अवयवों तथा क्रिया-कलापों में प्रकट हो जाता है। किसी भी पुरुष को यदि उसके भीतरी जीवन की दृष्टि से जानना हो तो उस

पुरुष की प्रकृति को देखने के साथ-साथ बिना बोले उसके जीवन-स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। कारण, भीतरी वृत्तियाँ बाहरी प्रवृत्तियों में झलके बिना नहीं रहती। यही नहीं, व्यक्ति की आंखों आदि अवयवों तथा स्वभावजन्य क्रियाओं में उसकी आन्तरिकता का नक्शा उतर आता है। एक मनोवैज्ञानिक ने तो आंखों को दिल की खिड़कियाँ बताया है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में मनुष्य की आकृति का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार धर्माराधन रूपी दर्पण में उसका अन्तर्हृदय स्पष्ट झलक उठता है।

मनुष्य के स्वभाव में जिज्ञासा की एक वृत्ति होती है। जो वह नहीं जानता है उसे इसी वृत्ति की सहायता से जानने की कोशिश करता है और जो उसे सामान्य रूप से नहीं दिखाई देता, उसे वह विशिष्ट प्रयास से भी देखने की इच्छा करता है। सदा कुछ नवीन-नवीन वस्तुओं को जानने और देखने की उसकी जिज्ञासा बनी रहती है। उन वस्तुओं को देखने की उसकी अधिक आतुरता रहती है जो छिपी हुई हो या परदे की ओट में हो। यह स्वाभाविक ही दिखाई देता है कि वह किसी भी आवरण के पीछे रहने वाले पदार्थ को देखने के लिये अधिक लालायित रहता है।

कल्पना करें कि किसी स्थल पर पर्दा लगा दिया जाय और उस पर यह लिख दिया जाय कि भीतर देखने की कोई भी चेष्टा न करे। अन्दर चाहे कुछ भी दर्शनीय या अदर्शनीय पदार्थ न हो, लेकिन इस सूचना का क्या असर पड़ेगा? यही कि जो सामान्य रूप से ऐसी-वैसी वस्तुओं की तरफ झांकना भी नहीं चाहता हो, वह भी ऐसी सूचना पढ़कर भीतर देखने को तत्पर बन जायेगा। उस पर्दे और सूचना को देख कर समझदार व्यक्ति का भी मन हो जायेगा कि वह भीतर जाकर किसी आश्चर्य को देखे। समझें कि पर्दा होता पर सूचना नहीं होती तब भी भीतर देखने की कई लोगों की उत्कंठा होती परन्तु इतनों की नहीं, जितनों की सूचना के द्वारा उत्कंठा बढ़ी। इसका आशय यह है कि कोई मामला जितना गोपनीय बताया जाय या कि रहस्यमय दिखाई दे, उसे जान लेने की उत्कंठा तुलनात्मक रूप से अधिक तीव्र होती है। मनुष्य के मन की आन्तरिक जिज्ञासा होती है कि वह पर्दे के पीछे रही हुई वस्तु को पहले देखने का उपक्रम करे। जो वस्तुएँ खुली हुई हैं यानी कि दृष्टिपथ में मौजूद हैं, उनकी तरफ मनुष्य का कई बार इस कारण से ध्यान तक नहीं जाता कि खुली ही तो हैं, कभी भी देख लेंगे, चाहे उनमें दर्शनीयता की वस्तुस्थिति ही क्यों न हो। सामने है तो क्या देखना अथवा देख ली है तो फिर-फिर क्या देखना—ऐसा भाव खुली रखी हुई वस्तुओं के प्रति उसका होता है। लेकिन छिपी या ढकी वस्तुओं के प्रति 'भीतर क्या है— उसे जरूर जानूँ' ऐसी भावना या कि जिज्ञासा मनुष्य की रहती है।

जिज्ञासा को समुन्नति की सीढ़ी मानें

जिज्ञासा होती है अनजाने को जानने की तथा अनदेखे को देखने की इच्छा। इसकी गति जब आत्मोन्नायक दिशा की ओर होती है तो वैसा पुरुष ज्ञान-विज्ञान के नये-नये रहस्यों का पता लगाता है, चिन्तन की अतल गहराइयों में उतरकर विचारों के मोती खोज लाता है अथवा आचरण का ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है जिससे सारे लोग प्रभावित हो जाते हैं। मूल में मनुष्य के मन की तीव्र जिज्ञासा ही होती है जो उसे नये-नये रहस्यों को खोजने तथा आविष्कारों या अनुसन्धानों को सफल बनाने की प्रेरणा देती है।

क्या ऐसी जिज्ञासा यहां बैठने वाले श्रोताओं के मन में भी रहती है जो इस धर्मस्थल पर बैठकर धर्म के मार्मिक रहस्यों की अनुभूति लें अथवा धार्मिक क्रियाओं के निष्ठापूर्वक आराधना से अपनी ही आन्तरिकता में झांकने की चेष्टा करें? एक बात मैं बता चुका हूँ कि आप श्रोताओं में से कोई बोले या न बोले लेकिन उनकी तरफ जब मेरी नजर जाती है तो मैं अनुभव कर लेता हूँ कि उनके मन में क्या चल रहा है या कि उनकी जिज्ञासा में कितनी तीव्रता है। शायद ही किन्ही श्रोताओं की यह जानने की इच्छा हो कि मैं उनके बारे में क्या अनुभव करता हूँ, किन्तु आप स्वयं न जाने हुए को जानने की जिज्ञासा के साथ अपनी ही आन्तरिकता में प्रवेश करने का प्रयत्न करें। यह प्रयत्न धर्म के माध्यम से ही संभव हो सकता है क्योंकि धार्मिक प्रक्रियाओं का स्वरूप इस तरह निर्धारित किया गया है जिनसे आपको बाहर से सारा ध्यान हटाकर अपने भीतर झांकने का अवसर मिले। इस प्रयास में जिज्ञासा की जितनी तीव्रता होगी, सफलता की आशा उतनी ही दृढ़ रहेगी।

जिज्ञासा को आप समुन्नति की सीढ़ी ही मानिये। तीव्र जिज्ञासा के बिना न कुछ गहरा जाना जा सकता है, न कुछ दर्शनीय देखा जा सकता है। वस्तुतः इच्छा शक्ति का प्रभाव ही मनुष्य को प्रगतिशील बनाता है।

इच्छा-शक्ति के प्रभाव से क्या कुछ नहीं किया जा सकता?

जहां जिज्ञासा का सम्बन्ध ज्ञान से माना जाता है, वहां इच्छा-शक्ति को कर्म से जोड़कर देखते हैं। यों दोनों वृत्तियों या शक्तियों का समन्वित रूप ही किसी मनुष्य को कर्मठ बनाता है। ज्ञान और क्रिया (कर्म) एक ही रथ के दो पहिये माने जाते हैं। ज्ञान के अभाव में क्रिया अथवा क्रिया के अभाव में ज्ञान कभी सार्थक नहीं होता। ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही उन्नति का रथ चलता

है। कुछ कर गुजरने के लिये जिज्ञासा की तीव्रता भी चाहिये तो इच्छा शक्ति का प्रभाव भी।

जिज्ञासा और इच्छा-शक्ति के प्रभाव को प्रबल बनाकर यदि एक बार कोई साधक अपने भीतर झांकने का प्रयास करे तो वह देख सकता है कि बाहर की अपेक्षा भीतर के दृश्य बड़े ही अलौकिक होते हैं। यही नहीं, आनन्ददायी भी होते हैं। वह ऐसा अनोखा आनन्द होता है कि कोई उसका रसास्वादन यदि एक बार कर ले तो फिर वह उसके बिना जीना ही पसन्द नहीं करेगा। फिर वह अपनी आन्तरिकता से कभी भी दूर हटने को तैयार नहीं होगा। जिसने जो जाना नहीं, जो देखा नहीं, उसके प्रति अगर सच्ची लगन लग जाय तो आत्मा के मूल स्वरूप का ज्ञान और अवलोकन इतना आनन्दायक होता है कि वह उसी में रमा रहना चाहता है।

मनुष्य का जीवन बाहर से दिखाई देने वाला शरीर मात्र ही नहीं है। इस शरीर के विभिन्न अवयव हाथ-पैर, आंख, कान, नाक आदि बाहर से दिखाई देते हैं लेकिन इन अवयव रूपी पर्दों के पीछे क्या रहस्य है या कि कौन-सी शक्तियाँ छिपी हैं—इसकी जिज्ञासा बिरलों को ही होती है। क्योंकि आम जनता में एक ऐसा वातावरण फैला हुआ है कि मानव अपने आप कुछ नहीं कर सकता। वह तो ऐसी एक शक्ति के हाथ का खिलौना मात्र है जो उसकी इच्छा पर ही कोई हलन चलन कर सकता है। उसके जीवन में जो कुछ घटित होता है उस सबका करने-धरने वाला इस मानव शरीर से बाहर अन्य कहीं पर है। चाहे वह शक्ति आकाश में है या और कहीं, लेकिन जैसा वह करेगी, वैसा ही यह मानव करेगा। उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं हो सकता। पेड़ का एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। सामान्य लोगों के मन में ऐसी धारणा जम गई है या यों समझिये कि जमा दी गई है।

ऐसी धारणा का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य ने अपने आपको परवश और विवश मान लिया है। सबकुछ कर सकने की उसकी इच्छा-शक्ति दब गई है तथा वह अपनी जिज्ञासा को भी तीव्र नहीं बना पाता है। इसके परिणाम स्वरूप वह अपनी आन्तरिकता में देखने की कोई कोशिश नहीं करता। वह यही सोचता है कि यह सबकुछ उसके वश की बात ही नहीं है। ऐसा निराशावादी दृष्टिकोण मानव जीवन के विकास की अर्गला बन गया है। भावना इतनी हताश और कुंठाग्रस्त हो गई है कि मानव अपने ही जीवन को हीन दृष्टि से देखने लगा है कि वह शक्तिहीन और पराधीन है। निरुत्साहित हो जाने से विकास की उसकी गति भी शून्य सी हो गई है। मन में कुछ भी कर गुजरने की

हिम्मत न हो तो कार्य क्षमता को जगाने की तड़प भी पैदा नहीं होती तथा सफलता की उमंग भी उमड़ती-धुमड़ती नहीं। कुछ करने की लगन ही नहीं बलवती बनती। ऐसी धारणा से ग्रस्त व्यक्ति का यही विचार चलता रहता है कि मुझे कुछ भी नहीं करना है, जो भी करना है, वही शक्ति करेगी। वह स्वयं को एक मशीन मान लेता है और मशीन की तरह निष्प्रभावी काम करता रहता है।

इस प्रकार की धारणा जमने का कारण ही यह होता है कि मनुष्य की जिज्ञासा एवं इच्छा-शक्ति शिथिल या मृतप्राय-सी ही बना दी जाती है। तभी वह अपने आपको सर्वथा अक्षम और अयोग्य मान लेता है, वरना इच्छा-शक्ति के प्रभाव से कौन-सा दुष्कर कार्य है जो मानव नहीं कर सकता है।

मानव अपना रूपान्तरण करे

आज मानव को ऐसी विवश वृत्ति से ऊपर उठना है। उसे अपनी भावनाओं व धारणाओं का रूपान्तरण करके नई जागृति का सन्देश गुंजायमान करना है कि वह शक्तिपुंज है, जिज्ञासा एवं इच्छाशक्ति का धनी है तथा अपने मन, वचन एवं कर्म को सन्नद्ध बनाकर असंभव कार्य को भी संभव बना सकता है। वह किसी भी शक्ति के अधीन नहीं अथवा किसी भी शक्ति का खिलौना नहीं है। अपने भाग्य का वह स्वयं नियन्ता है, क्योंकि उसी की आत्मा में शक्ति का अनन्त स्रोत है तथा उसी के शरीर के विभिन्न अवयवों के पीछे ऐसी रचना छिपी हुई है जो उसे परम साहसी, परम पुरुषार्थी तथा परम प्रतापी बना सकती है।

ऐसी सशक्त धारणा निर्मित की जायेगी तभी रूपान्तरण की प्रक्रिया सफल बन सकेगी। अपने जीवन स्वरूप को सही तरीके से समझ और मान लेने के बाद ही वह अपने समग्र विकास के लिए तत्पर बन सकता है। वह अपनी चेतना शक्ति को भी पहचाने और अन्तःकरण के उत्साह को भी परखे तब वह अपने में नये मूल्य रचने और नये आदर्श उपस्थित करने की उमंग को दिखा सकता है।

विश्व में मानव ही एक ऐसी इकाई है जो शक्तिमान भी है और स्वाधीन भी। वह सबकुछ कर सकता है क्योंकि वह स्वयं के अधीन है। उसके अन्तस्तल में सर्व प्रकार की शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। यदि एक बार उसकी जिज्ञासा जाग जाय और इच्छा-शक्ति कर्मरत बन जाय तो वह अपने शक्तिकोश का द्वार सहज ही में खोल सकता है।

मनुष्य का रूपान्तरित विराट् रूप

मानव यदि भीतर के बंद द्वार की कुंजी खोज ले और हृदय पट खोल दे तो वह अपनी अनन्त शक्तियों को स्वयं देख सकता है तथा उन्हें पूर्णतया विकसित बना सकता है। किन्तु मानव अपने विराट् रूप की अनुभूति तभी ले सकता है जब वह अपने इस हताश वर्तमान जीवन को रूपान्तरित कर ले तथा उसमें सम्यक् ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का सतत तेजस्वी प्रकाश भर ले।

यह ज्ञातव्य है कि मनुष्य की आत्मा और उसके शरीर के संयोग से जो यह मानव जीवन निर्मित हुआ है, यह जीवन अभूतपूर्व रहस्यों से परिपूरित है। आपको आकाश में जो अनेकानेक सितारे दिखाई देते हैं या कि इस भूमिपटल पर जो चित्र-विचित्र दृश्य दृष्टिपथ में आते हैं, उन सबका ज्योतिर्मय स्वरूप हमारे भीतर मौजूद है। उसे बाहर, ऊपर-नीचे देखने की आवश्यकता नहीं है। पहले हम अपने आपको शून्य का अनुभव करें और फिर समीक्षण ध्यान की धारा में प्रवाहित होते चलें तो इस विराट् विश्व का स्वरूप हमारे अपने ही भीतर प्रतिबिम्बित होने लगता है।

मनुष्य के मस्तिष्क में जब जमे हुए विचारों के साथ नये उभरने वाले विचारों का टकराव होता है तो एक बार तो वह अशान्त हो उठता है किन्तु धीरे-धीरे वह नये विचारों को समझता है और ग्रहण कर लेता है। यही उसके रूपान्तरण की प्रक्रिया का प्रारंभ होता है। यह रूपान्तरण होता है अंधकार की परतों में से निकलकर प्रकाश की तेजस्विता में चरण रखना। इसका मूलमंत्र है—तमसो मा ज्योतिर्गमय। हमारी सांस्कृतिक विरासत में ऐसे उपदेश विद्यमान हैं जो अंधेरे से प्रकाश की ओर आगे बढ़ने का मार्गदर्शन करते हैं। फिर भी कितनी चिन्तनीय अवस्था है कि देशवासियों का अपनी ही सांस्कृतिक विरासत की ओर आवश्यक ध्यान नहीं है।

आपके शरीर में भी क्या कुछ है—उस का लेखा-जोखा और उसकी प्रतिच्छाया दो स्थलों पर अभिव्यक्त होती है। एक तो हथेली की रेखाओं पर तथा दूसरी मस्तिष्क की अवस्था में। पहले स्थल का अधिक महत्त्व नहीं है। मानव हताश होने पर सामुद्रिक विद्या के जानकारों के पास जाकर अपना भविष्य पूछता रहता है। ज्यादातर जानकार तो तीर तुक्के लगाते रहते हैं। अन्ततोगत्वा ऐसी खोखली भविष्यवाणियाँ उसे हतोत्साहित ही करती हैं। फिर वह अधिक पुरुषार्थहीन हो जाता है। इसलिये दूसरे स्थल का पर्याप्त विकास ही श्रेयकारी होता है क्योंकि वही एक केन्द्र होता है जिसके सुव्यवस्थित संचालन से विकास के बड़े-बड़े आयाम साधे जा सकते हैं।

मस्तिष्क केन्द्र को सबसे पहले सुव्यवस्थित बना कर आपको नवीन भावनाओं एवं धारणाओं की सर्जना करनी चाहिये, क्योंकि इसी केन्द्र से अपने असद्विचार का रूपान्तरण करके आप उन्हें सद् रूप में परिवर्तित कर सकते हैं। क्रूरता के स्थान पर कोमलता एवं संहार के स्थान पर सृजन का वातावरण बनाया जा सकता है। यह विचार शक्ति बड़ी प्रबल होती है, वह चाहे जिस रूप में चले। बुरी दशा में चल रही है तो जगह-जगह घातक बुराइयां बिखेरती हुई चलेगी और यदि अच्छी दिशा में चल पड़ी है तो सब ओर अच्छाइयों भरा वातावरण रच देगी। विचारों की ही शिथिलता और शून्यता में जीवन भी मृत्यु के समान असह्य हो जाता है, वहां जीवन्त विचारों का आवेग एक बार तो मरणासन्न व्यक्ति को भी मृत्यु से उबार लेता है। वैचारिकता की शुभाशुभता व्यक्ति के भाग्य, समाज के संचालन और राष्ट्र के निर्माण की दिशा को बदल देती है।

इस विश्लेषण से यह सीखने की जरूरत है कि शरीर का एक अवयव मस्तिष्क ही इतना शक्ति सम्पन्न है तो सोचिये कि अन्य अवयवों सहित यह सम्पूर्ण शरीर कितने विराट् रूप में शक्ति सम्पन्न है क्योंकि उसकी शक्ति का रहस्य आत्मा की अनन्त शक्ति सम्पन्नता में रहा हुआ होता है। प्रश्न है रूपान्तरण के पुरुषार्थ का कि यह विराट् रूप अभिव्यक्त हो सके।

अपने जीवन का मैं ही विधाता हूँ

‘वर्तमान में अपने जीवन का मैं ही विधाता हूँ’—इन्हीं विचारों के साथ अपने भावों को शुद्ध एवं सक्रिय बनाये रखने का प्रयत्न करें। भावों को उच्च बनाने के लिये महापुरुषों के जीवन चरित्र का अध्ययन करना चाहिये और इस तथ्य पर गंभीर चिन्तन करना चाहिये कि किस प्रकार उन्होंने स्वयं को अपने भाग्य का नियन्ता और विधाता मानकर अपने जीवन स्तर को आदर्श एवं अनुकरणीय बनाया। उनके जीवन में आपत्तियों के अंधड़ आये, संकटों के पहाड़ टूटे लेकिन उन्होंने उन सबका साहसपूर्वक सामना किया, अपने आत्मिक बंधनों से छुटकारा पाया तथा विकास की चरम स्थिति का स्पर्श कर लिया। अतः ऐसे महापुरुषों के जीवन को यदि आप अपने स्मृति पटल पर लाते रहें तो आपके अन्तःकरण में भी प्रेरणा, साहस एवं कर्तृत्व शक्ति का ऐसा ज्वार उठेगा जो आपको उन्नति की ऊँचाइयों तक ले जायेगा और आपको अनुभव करा देगा कि आप अपने उस सौभाग्य के स्वयं विधाता थे।

भगवान् महावीर ने अपने उपदेशों में लेश्याओं का स्वरूप बतलाया है।

जिससे कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, वैसी वृत्तियों को लेश्या कहा है। लेश्याएँ छः बताई गई हैं— 1. कृष्ण लेश्या। 2. नील लेश्या। 3. कापोत लेश्या। 4. तेजो लेश्या। 5. पद्म लेश्या तथा 6. शुक्ल लेश्या। यों द्रव्य और भाव के भेद से लेश्या दो प्रकार की है। ये लेश्याएँ क्रमशः अशुभतम भावों से शुभ और शुभतर भावों की ओर गतिशीलता की सूचक हैं। जैसा बताया गया है कि किसी व्यक्ति के हृदय में जैसे भाव होते हैं, उनका प्रतिबिम्ब व्यक्त-अव्यक्त रूप से उसकी आकृति पर अवश्यमेव झलकता है। कभी-कभी ग्रंथों में पढ़ा जाता है, सुना जाता है और कई मनोवैज्ञानिकों ने शोध भी किया है कि मनुष्य के मस्तक के चारों ओर एक भामंडल होता है। यह एक प्रकार से अन्तर्गत भावों का अदृश्य सा घेरा बना हुआ चक्र होता है। जैसा यह भामंडल होता है उसी रूप में हृदय में रहे हुए भावों के अनुसार लेश्या वर्गणा के पुद्गल निर्मित होते हैं। उन पुद्गलों से भी आभा बनती है। वह आभा भावों के चित्रण रूप होती है। उस भामंडल या आभा के पारखी उसे देखकर उस व्यक्ति के भावों के स्वरूप को समझ लेते हैं कि वर्तमान में वह क्या करने का विचार कर रहा है और किस प्रकार की वृत्तियों के साथ रमण कर रहा है या कि भविष्य में क्या कुछ करने का इरादा रखता है। जैसे दूसरे पारखी मनोगत विचारों का अनुमान लगाते हैं, वैसे एक व्यक्ति स्वयं तो कभी भी समीक्षा करके जान ही सकता है कि उसके भीतर किस प्रकार की वृत्तियाँ प्रबलता पकड़े हुए हैं। यह अन्तर्ज्ञान ही उसे अपने भाग्य का विधाता बनने की प्रेरणा देता है कि वह अपने भीतरी भावों को रूपान्तरित करे और भाग्य को श्रेष्ठ सुख व शान्ति की दिशा में मोड़ दे।

भाग्य नहीं, कर्म मुख्य होता है

एक व्यक्ति क्रोध में अपना आपा खो देता है। उस तीव्र क्रोध के कारण दूसरों को भी वह संत्रास पहुँचाता है तो स्वयं भी पीड़ित बनता है। उस पीड़ा के अनुभव के समय कोई यह सोचे कि वह कितना दुर्भाग्यशाली है जो उसे यह पीड़ा भोगनी पड़ रही है। अब आप ही बताइये कि अपनी उस पीड़ा के लिये उस व्यक्ति को अपने भाग्य को कोसना चाहिये अथवा अपने कर्म को? उसने क्रोध का (कु) कर्म किया और उसे पीड़ा मिली। वह विवेक को ऊपर रखता तथा क्रोध नहीं करता तो उसे वह पीड़ा भी नहीं भोगनी पड़ती। इस कारण भाग्य को बीच में लाने की जरूरत नहीं है। और वैसे भाग्य स्वयं भी तो कर्म की सन्तान होता है। कर्म (कार्य) जैसा किया, उसका परिणाम ही भाग्य कहलायेगा। कर्म का तत्काल परिणाम तो हम को समझ में आ जाता है किन्तु जब इन दोनों के बीच एक या कई जन्मों का अन्तराल हो जाता है तो दोनों का सम्बन्ध जोड़

नहीं पाते हैं। इसी कारण परिणाम को भाग्य मानकर कर्म के ज्ञान के अभाव में दुःखी होते हैं। वस्तुतः भाग्य नहीं, कर्म ही मुख्य होता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, भामंडल के बारे में काफी मनोवैज्ञानिक शोध चल रहा है। कहा जाता है कि जब मनुष्य क्रोधावेश से भरा हुआ होता है तो उसका भामंडल भी क्रोध की धाराओं का घेरा बन जाता है। क्रोध लेश्या के पुद्गल इन आंखों से तो नहीं दिखाई देते, किन्तु बताया गया है कि बारीक कैमरे से क्रोधपूर्ण भामंडल का चित्र अंकित कर लिया गया। ऐसा एक चित्र हिम्मतसिंहजी सरपुरिया के यहां उदयपुर में देखने में भी आया। अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य को अपने सौभाग्य का विधाता बनना है तो अपने कार्यों के प्रति पूरी सतर्कता बरतनी होगी। जैसे क्रोध के भाव मन में उमड़ने, घुमड़ने पर भामंडल में भी प्रतिबिम्बित हो जाते हैं और उस व्यक्ति की आकृति को रौद्र रूप दे देते हैं कि कोई भी देखकर उससे आतंकित हो या भयभीत हो। उसी प्रकार जब दया और करुणा के विचार अन्तःकरण के कण-कण में समा जाते हैं तथा भामंडल के चक्र में भी प्रतिबिम्बित हो जाते हैं तब उस व्यक्ति की आकृति पर ऐसा स्नेहपूर्ण आकर्षण दिखाई देता है कि कोई भी पीड़ित उससे निस्संकोच सहायता का निवेदन कर ले। जैसे भाव भीतर होंगे, उन्हीं के अनुरूप आभा फूटेगी तथा उस आभा से उसके सम्पर्क में आने वाला कोई भी व्यक्ति तदनुसार प्रभावित होगा। आपका सौभाग्य या दुर्भाग्य यही है कि आपका प्रभाव सुखकारी होता है या पीड़ाकारी। और इसके विधाता आप स्वयं हैं अपने कर्म के माध्यम से।

यों भाग्य किसे कहते हैं? आज का भाग्य अतीत के शुभाशुभ कर्मों से ही तो सम्बन्धित होता है। पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम आज है तो आज के कर्मों का परिणाम आगे सामने आवेगा। यह कर्म और उसके परिणाम की शृंखला इस संसार में चलती रहती है। विवेकशील पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपने कर्म के स्वरूप को श्रेष्ठ बनावे और अपने सौभाग्य का विधाता बनता रहे। अपने ही पुरुषार्थ से दुर्भाग्य को इतना दूर धकेल दे कि वह कभी वापस पास में फटकने नहीं पावे।

जीवन का रूपान्तरण जरूरी

यदि सौभाग्य के चरम लक्ष्य को प्राप्त करना है तो वर्तमान जीवन का रूपान्तरण जरूरी है। जिस रूप में अभी यह जीवन चल रहा है, उसमें लेश्या और कषाय का जोर हो सकता है। मन, वचन व काया का अशुभ योग व्यापार

राग-द्वेष की जड़ों को सींच रहा हो सकता है या कि अपनी विकृत वृत्तियाँ व प्रवृत्तियाँ दूसरों को दुष्प्रभावित कर रही हो सकती हैं। इस रूप को शुभता में बदलना है, सदाशयता में ढालना है और निर्विकार निर्मलता में परिवर्तित करना है। यही जीवन का रूपान्तरण है।

गांठ बांधने की बात यह है कि इस सारे रूपान्तरण का सामर्थ्य तथा सौभाग्य रचने की क्षमता स्वयं इस जीव में है जो यह जीवन जी रहा है यानी कि आप में है, सब में है। आप अपने सद्भाग्य का उदय चाहते हैं, दुर्भाग्य का नहीं, किन्तु अपनी चाह के अनुरूप कर्म आपको करना होगा, यह समझकर कि आपका भाग्य कोई दूसरा नहीं, आप खुद बनाने वाले हैं।

इस हेतु आप अपने वर्तमान जीवन को जांचें-परखें और पता चलावें कि क्या त्याज्य है और क्या आचरणीय, फिर रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारंभ कर दें। यह रूपान्तरण और एक साधना है। धर्मस्थल पर साधी जाने वाली साधना। आप धर्मस्थल पर हैं, साधिये न।

दिनांक : 17.08.1986

(जलगांव)

11

समझें स्वभाव को

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे...

ये वीतराग देव की प्रार्थना की कड़ियां हैं। सभी तीर्थंकर और शासन-नायक वीर प्रभु अपने चरम लक्ष्य की पूर्ति करके मोक्ष में पधार गये किन्तु उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने की भावना रखने वाले भव्य जन-वीतरागानुयायी भक्त जन अपने अन्तर्हृदय में चिन्तन करें कि हम वीतराग के अनुयायी हैं या राग के? राग का अनुसरण करने वाले को वीतराग का अनुसरण करने में बड़ी कठिनाई होती है क्योंकि दोनों एकदम विपरीत दिशाएँ हैं। उसी प्रकार जो सचाई के साथ वीतराग का अनुयायी है, वह रागोन्मुख नहीं हो सकता है।

राग क्या और वीतराग क्या ?

सांसारिक वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में रचे-पचे रहने वाले लोग वीतराग देव के उद्देश्यों एवं उपदेशों को सही तरीके से अनुभव नहीं कर पाते हैं क्योंकि उनकी सांसारिक पदार्थों तथा इन्द्रियजन्य भोगों में राग वृत्ति सक्रिय बनी रहती है। ऐसे लोग खाने के लिये बैठते हैं तो खाने में नजर गड़ जाती है और आसक्ति फंस जाती है कि वह अधिक से अधिक स्वादु खाना खा सकें। उस समय उसके मन का चिन्तन भी पूरी तरह से खाने के राग भाव में लिप्त हो जाता है। वह सोचता है कि सामने आया हुआ खाना अच्छा है या खराब, उसे जमेगा या नहीं। अच्छा समझ में आयेगा तो खाने की लालसा बेहद बढ़ जायेगी और एक-एक खाद्य पदार्थ को वह सराह-सराह कर खाने लगेगा। इसके स्थान पर यदि खाना खराब हुआ तो वह नाक-भौं सिकोड़ कर द्वेष भाव को फैला देगा और सम्बन्धितों को बुरा-भला कहने लगेगा। उसकी अति अनुकूल या अति प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ उसके गहरे राग भाव या द्वेष भाव को दर्शाती हैं। अच्छे लगने वाले व्यक्ति या पदार्थ के साथ राग भाव तो बुरे लगने वाले व्यक्ति या पदार्थ के साथ द्वेष भाव होता है।

गहरी रागवृत्ति में फंसा हुआ व्यक्ति जब आसक्त भाव से अपने मनपसंद खाद्य पदार्थों को खोजता है और वे उपलब्ध नहीं होते हैं तो उसे खिन्नता का अनुभव होता है। किन्तु जब वह देखता है कि वे खाद्य पदार्थ दूसरा लिये जा रहा है तब उसका द्वेष भाव उभरता है। यह द्वेष भाव परिस्थितियों के अनुसार आक्रामक, हिंसक और घातक तक बन सकता है। राग द्वेष की ऐसी परिणति संसार के अनेकानेक भोग्य पदार्थों के प्रति चलती रहती है।

यह तो मन के भावों का एक किनारा है जिसे राग भाव कहते हैं। जो आसक्ति, मोह और ममता में लिपटा हुआ होता है उससे पीछा छुड़ाना या मुक्त होना सर्वाधिक दुष्कर माना गया है। मोह से मुक्त हो जाओ तो समझ लो कि सारे कर्मों और विकारों तथा सारी बुराइयों से मुक्त हो जाओगे।

इस एक किनारे से एक साधक जब अपनी कठिन यात्रा शुरू करता है तो दूसरे अन्तिम किनारे तक पहुँचना चाहता है और वह किनारा होता है वीतराग भाव का। द्वेष को राग के पेटे में ही समझा जाता है क्योंकि द्वेष, राग की प्रतिक्रिया के रूप में फूटता है और द्वेष को जीत लेना राग की अपेक्षा सरल होता है। राग को जीतने की सफल यात्रा का ही नाम है वीतराग भाव की यात्रा अर्थात् जिस का राग व्यतीत (नष्ट) हो जाता है, वह वीतराग बन जाता है और जो एक बार वीतराग बन जाता है वह सदैव वीतराग बना रहता है चाहे वह अरिहंत अवस्था में रहे अथवा सिद्ध अवस्था में। यह है राग और वीतराग का सामान्य विश्लेषण।

विषमताओं का जनक होता है राग भाव

खाने की सामग्री हो या पीने की, पहनने की हो या रहने की अथवा किसी भी उपयोग-परिभोग की सामग्री हो, उसके प्रति तुरन्त ही सांसारिकता की मनोवृत्ति या तो राग भाव या द्वेष भाव पकड़ लेती है। एक संसारी आत्मा यह देखती है कि उसने जो भोजन पसन्द किया था, वही बनाया गया है या नहीं, अथवा उसने जो कपड़ा छांटा था, वही सिलाया गया है या नहीं और जिन पदार्थों या भोग साधनों की उसने लालसा रखी थी, वे उसे सुलभ हो पाये हैं या नहीं और सुलभ नहीं हो पाये हैं तो क्यों? कौन है उनकी उपलब्धि में बाधा डालने वाला? ये सारे मनोभाव उसमें रागात्मक वृत्तियाँ तीखी बना देते हैं जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में तदनुसार प्रतिफलित होती है तथा तदनुसार ही विषमतापूर्ण अवस्थाओं की रचना करती रहती है। मूल रूप में मानें तो यह राग भाव ही सभी प्रकार की विषमताओं का जनक होता है।

विविध आसक्तियों में फंसी हुई सांसारिक आत्मा यह नहीं सोच पाती है कि खाद्य पदार्थों का मूल उपयोग इस शरीर को धर्म साधन के रूप में जीवित रखने में ही तो है या वस्त्रों का उपयोग तन ढंकने में ही तो है। फिर उन के लिये इतनी लालसा क्यों? क्यों मैं इन भ्रामक पदार्थों के प्रति राग भाव रखूँ? क्यों रुचि की ममता के पीछे रागजन्य निकाचित कर्म बंधन में ग्रस्त होती हूँ? समझिये कि आप जिस परिवार में रहते हैं उसमें सभी सदस्य एक स्वभाव के नहीं होते हैं। कोई स्पष्ट बोलता है, कोई प्रकारान्तर से बोलता है तो कोई विनयपूर्वक व्यवहार करता है, किन्तु किसी से तनिक भी विनय नहीं होता और उसका व्यवहार परिवार के मुखिया या अन्य सदस्यों को खल जाता है। इस प्रकार परिवार में कटुता फैल जाती है। इस कटुता में मुख्यतः रागात्मक वृत्तियाँ ही टकराव पैदा करती हैं और विषमतापूर्ण मनःस्थितियाँ बन जाती हैं। यही कारण है कि अधिकांश संयुक्त परिवार जो आनन्दपूर्वक चल रहे थे, उनमें टूटन पैदा होती जा रही है।

यही नहीं व्यापार-व्यवसाय तथा अन्य सामाजिक कार्यों में भी ये ही रागात्मक वृत्तियाँ भेदभाव के बीज बो देती हैं। इन्हीं के कारण कभी आक्रोश की उत्तेजना होती है तो कभी खिन्नता की मायूसी और दिलों में दरारें फूटती रहती हैं। कई बार तो भांति-भांति के कुफल भुगतते हुए भी रागलिप्त आत्मा में विवेक की जागृति नहीं हो पाती है। वह सबक नहीं लेती कि राग का अनुसरण करने से लोगों के बीच में किस प्रकार भेदभाव की खाई खुद जाती है और मोह-माया के टकराव बड़े तीखे हो जाते हैं।

जब तक राग रहेगा तब तक विषमता फैली रहेगी। राग है तो वीतराग नहीं और राग है तब तक पूरी समता नहीं।

राग को छोड़कर देखिये तो सही!

राग को छोड़कर देखिये तो सही कि वीतरागता में कैसा अनुपम आनन्द प्राप्त होता है? राग को एक साथ छोड़ना कठिन प्रतीत हो तो उसे घटाकर ही अनुभव लीजिये तो समझ में आयेगा कि भीतर का तनाव कम हो गया है। विषमता और कटुता घटी है तथा अशान्ति के स्थान पर कुछ-कुछ शान्ति का आभास होने लगा है। यह एक निश्चित तथ्य है कि जब तक राग का पल्ला पकड़े हुए रहेंगे, तब तक वीतराग दशा के आनन्द का अनुमान ही कैसे लग पायेगा?

राग से वीतरागता की दिशा में प्रगति करने के लिये सही विधि से साधना करनी पड़ती है जिसमें योग पद्धति को भी अपनाना होता है। योग पद्धति में

मन, वचन एवं काया की वृत्ति-प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना होता है तथा मन को एकाग्र बनाना होता है। साधना में यदि रागात्मक वृत्तियाँ शिथिल नहीं होती हैं तो न नियंत्रण आ सकेगा न एकाग्रता। रागी व्यक्ति किसी साधना में बैठ भी जायेगा तो बाहर से ध्यानस्थ भले दिख जाय किन्तु उसका चंचल मन पदार्थ-मोह में भटकता रहेगा। इसलिये राग भाव को घटाने का आसक्ति और मोह की लिप्तता से दूर हटने का संकल्पपूर्वक अभ्यास करना होगा और उस हेतु वीतराग देव द्वारा बताई गई विधि प्रयोग में लानी होगी।

साधना की यह विधि है निजी चारित्र को ऊपर उठाने की, ममता से समता की ओर बढ़ने की तथा विभाव से स्वभाव में रमण करने की। जब चारित्रिक उन्नति होगी तो वैभव अधिक मिलेगा किन्तु उसमें आसक्ति नहीं होगी। जिसकी आसक्ति मिट जाती है उसकी नजर में ही तो मिट्टी और सोना एक समान बन जाते हैं। इसकी अनुभूति राग छोड़ने के बाद ही हो सकती है। सारे वैभव के बीच रहते हुए भी उसमें ममत्व न रहे—यह महती चारित्रिक साधना होती है। वह साधना विराग पर आधारित बन जाती है। राग छोड़ने पर ही विराग पैदा होता है तथा विराग की अन्तिम परिणति ही वीतरागता में होती है, जो इस मानव जीवन का चरम ध्येय मानी गई है।

जितना राग है, वह विभाव है

आज आपको देखना है कि प्रतिदिन वीतराग देव के नाम का जाप करने वाले और विश्व के श्रेष्ठतम नवकार मंत्र को महामंत्र कहने वाले व्यक्ति भी अपने जीवन में भोग्य पदार्थों के प्रति कितनी और कैसी राग भावना लेकर चल रहे हैं? इसमें अपने आपको भी नहीं छोड़ना है। अपने जीवन की वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों की भी परख करनी है कि वे कितने गाढ़े राग भाव के साथ पदार्थ मोह में लिप्त हो रही हैं। ऐसी स्थिति सामान्य रूप से आपको अनुभवगम्य भी होगी।

उस अनुभव से आपको ऐसी प्रतीति अवश्य हुई होगी कि जितना राग है, वह विभाव है, अपना निज का स्वभाव नहीं है। आत्मा का मूल स्वभाव कैसा होता है तथा उसके मूलगुण क्या-क्या होते हैं—इस चर्चा को आप कई बार संतों के मुख से सुनते रहते हैं। अपने निज के स्वरूप और गुणों को भूलकर जब तक आत्मा जड़ विमुग्ध बनी रहती है तब तक वह अपने मूल स्वभाव से विस्मृत रहती है। उस दशा में वह जिस प्रकार की क्रिया-प्रक्रियाओं में रत रहती है, वे उसकी स्वाभाविक क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ नहीं होती हैं। तब वह अपने ही भटके हुए चंचल मन तथा अनियंत्रित इन्द्रियों की काम वासनाओं व भोग लालसाओं

में फंस जाती है और स्वयं निष्क्रिय-सी हो जाती है। ऐसी उसकी रागग्रस्त दशा होती है। यह सारा उसका वैभाविक वातावरण होता है जो स्वभाव-विस्मृति के परिणाम स्वरूप क्रियाशील बना रहता है।

अपने स्वभाव से दूर पटक देने वाले और विभाव में भटकाने वाले ऐसे राग भाव का यदि आप सम्पूर्णतः त्याग करने का सामर्थ्य अपने में वर्तमान में नहीं पाते हों तो विभिन्न प्रकार की मर्यादाओं के माध्यम से उसका देशरूप आंशिक त्याग तो ले ही सकते हैं। इसमें आपको कोई बाधा नहीं माननी चाहिये। आज जिन पदार्थों में आपकी आसक्ति है, कदाचित् वे जीवन पर्यन्त के लिये न छूट पाते हों तो उनका अस्थायी त्याग तो किया ही जा सकता है या उनके उपभोग-परिभोग की सीमाएँ तो बांधी ही जा सकती हैं। इतना भी करें और अधिक करने की भावना रखें तब ही आप अपने को वीतराग देव का अनुयायी कह सकेंगे और मान सकेंगे।

स्वभाव को समझने की जरूरत

यह आपकी अपनी आत्मिक कसौटी पर लिया गया आपका अपना निर्णय होगा कि आपका मूल स्वभाव क्या है? और विभाव के कैसे दौर में आप चल रहे हैं? इसमें अपनी अन्तरात्मा के भीतर झांकना होता है तथा अनुभव लेना होता है कि अपनी आन्तरिकता को क्या अच्छा लगता है? जो-जो अच्छा लगता है वह स्वभाव है और जो-जो थोपा हुआ या अप्राकृतिक-सा लगता है, वह सब विभाव है, स्वभाव की विकृति है।

इस कारण स्व+भाव यानी निजभाव को समझने की पहली जरूरत है। स्वभाव जब समझ में आ जाता है तो राग भाव स्वतः ही घटता चला जाता है क्योंकि तब उसे अपनी नहीं, बाहर की वृत्ति भी साफ तौर पर मालूम हो जाती है। स्वभाव को समझ लिया जाय तो कोई कितने ही रुचिकर पदार्थों या कि अनुकूल शरीर सुखों के बीच खड़ा हो जाय, वैभव के अम्बार का धनी बन जाय या कि सत्ता और पद के एकाधिपत्य को प्राप्त कर ले, उसके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। उस सारी जड़-उपलब्धि को वह कीचड़ मानता है तथा कीचड़ में कमल के समान निर्लिप्त भाव से अपनी दिनचर्या चलाता है। जो स्वभाव को समझ जाता है, वह राग भाव की विषमता और कटुता को महसूस कर लेता है, विभाव के खोखलेपन को देख लेता है। इस कारण फिर अपने स्वभाव से वह विचलित होना नहीं चाहता है। वही स्वभाव तब उसे विराग की ओर तथा विराग से वीतरागता की ओर गतिमान करता रहता है।

शास्त्रकारों ने उपासक दशांग सूत्र में आनन्दजी जैसे श्रावकों का वर्णन किया है। उन आनन्दजी के पास कितना सांसारिक वैभव था? किन्तु उस वैभव के साथ भी वे कितने निर्लिप्त भाव से रहे और अन्तिम समय में उन्होंने कैसी उच्च साधना की? उनके पास तेरह करोड़ सौनेयों का धन था। आज के मानव को एक करोड़ का धन मिल जाय तो शायद वह फूलकर कुप्पा बन जाय। फिर भी वे उसमें आसक्त नहीं थे, कभी वैभाविक दशा में नहीं रहते थे। इसके बाद 1,250 बीघा कृषि भूमि उनके पास थी। आप समझ सकते हैं कि खेती का कितना माल प्रतिवर्ष खाने योग्य आता होगा। फिर उनके पास गायों के चार गोकुल भी थे अर्थात् चालीस हजार गायें। वे श्रावकजी उन सबका संरक्षण करते थे। आप जानते हैं कि एक भी गाय को यथायोग्य रीति से घास न डाली जा सके तो श्रावक को पहले अणुव्रत का अतिचार लग जाता है। इतना सारा वैभव रखते और व्यवस्था करते हुए भी वे बारह व्रतधारी श्रावक थे क्योंकि उस सबमें उनका राग भाव नहीं था। राग भाव क्यों नहीं था? क्योंकि उन्होंने वैभाविक अवस्था को त्याग कर अपने स्वभाव को भली-भाँति समझ लिया था।

अल्पारंभी और महारंभी का अन्तर

आनन्दजी के पास चालीस हजार गायें थीं किन्तु दश उपासकों में से अन्यो के पास अस्सी हजार तक गायें थीं और उसी प्रकार अधिक विस्तृत खेती भी थी। कृषि और पशुपालन की दृष्टि से कई लोग यह सोच लेते हैं कि इतना बड़ा व्यवस्था क्रम होने से वे श्रावक महारंभी थे जबकि श्रावक को अल्पारंभी होना चाहिये क्योंकि जितना आरंभ (सांसारिक काम-काज) है, उतना ही पाप होता है। इसी कारण महारंभी को महापापी भी कहा जाता है।

किन्तु क्या महारंभ होता है और क्या अल्पारंभ? यह समझने की बात है। इन श्रावकों को यदि भगवान् महावीर महापापी समझते तो क्या उन्हें अपना श्रावक बनाते और उनकी चारित्र-सराहना को शास्त्रीय स्वरूप प्रदान करते? खेती या पशुपालन को महारंभ या महापाप मानने वालों को समझना चाहिये कि अन्य कई व्यवसायों से आजीविका के लिये कृषि का व्यवसाय पवित्र माना गया है। श्रावक इस दृष्टि से खेती करते हुए व्रतधारी भी बना रह सकता है। जहां तक विवेक और यतना का प्रश्न है, वह सभी प्रकार के व्यवसायों में आवश्यक है। इतनी कृषि और गायों आदि की विपुलता होते हुए भी भगवान् महावीर ने इन श्रावकों को अल्पारंभी ही कहा है। इतना परिग्रह होने पर भी उन्हें अल्प-परिग्रही ही बताया है।

महारंभ और अल्पारंभ का अन्तर पदार्थों या सम्पत्ति की मौजूदगी से नहीं आंका जाता है। उसका अंकन आसक्ति की प्रगाढ़ता के अनुसार होता है। इसी कारण पदार्थों को परिग्रह नहीं कहा गया है बल्कि उन पदार्थों आदि में रही हुई 'मूर्च्छा' आसक्ति, मोह और राग को ही वास्तव में परिग्रह माना गया है। अल्प सम्पत्ति होते हुए भी यदि मूर्च्छा और आसक्ति अत्यधिक है तो वह महा-परिग्रही, महारंभी और महापापी होगा। दूसरी ओर सम्पत्ति विपुल और अपार है किन्तु सम्पत्ति के स्वामी की उसमें कोई मूर्च्छा या आसक्ति नहीं है—कमलवत् निर्लिप्त वृत्ति है तो वह अल्प परिग्रही, अल्पारंभी तथा अल्पपापी कहलायेगा।

आपको भी वीतराग का सच्चा अनुयायी बनना है तो राग, विराग तथा वीतराग के मूल्यों को समझना होगा यानी कि भावों के महत्त्व का मूल्यांकन करना होगा क्योंकि बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा आन्तरिक वृत्तियों के आधार पर ही पाप का आकलन होता है।

आनन्दजी आदि श्रावकों की अनासक्ति का यह प्रमाण रहा है कि जब तक वे अपने वैभव की व्यवस्था करते रहे, वह व्यवस्था उन्होंने अपने व्रत और कर्त्तव्य की सीमाओं में रहकर की और ज्यों ही उनके पुत्र आदि उनका कार्य भार संभालने के योग्य हो गये तो उन्होंने तुरन्त सारे वैभव का त्याग कर दिया और धार्मिक प्रक्रियाओं में निमग्न हो गये। इसी से वे वीतराग के अनुयायी माने जाते हैं राग के नहीं। वे एक तरह से सम्पत्ति के ट्रस्टी बने रहते थे और उसे निर्लिप्त भाव से परिवार, समाज और राष्ट्र की अमानत मानते थे। इसलिये वे सहज भाव से उस सम्पत्ति को पुनः समर्पित भी कर देते थे। अपने राग भावों की अल्पता के कारण वे अल्पारंभी थे।

राग से विराग की ओर कैसे बढ़ेंगे ?

भगवान् महावीर के उपासक श्रावकों ने राग भाव को कैसे घटाया और कैसे राग से विराग की ओर बढ़ते गये? अपना सारा कार्य भार अपने पुत्रों को संभला कर वे अपनी पौषधशालाओं में धार्मिक साधना में तल्लीन हो गये। पहले माह में छः पौषध करने लगे यानी साधु जीवन की सीमित साधना में प्रवृत्त हुए और फिर ग्यारह प्रतिमाओं की साधना तक अग्रगामी बने। प्रतिदिन सामायिक प्रतिक्रमण तो करते ही थे, अपने जीवन को अधिकाधिक पवित्र बनाने की संयम-साधना में लगे रहते थे। तभी तो वे बारह व्रतधारी श्रावक थे और वीतराग देव के सच्चे अनुयायी थे।

आप अपने को वीतराग देव के सच्चे अनुयायी मानते हैं या नहीं? पीछे

चलने वाला अनुयायी होता है, सिर्फ मानने वाला ही नहीं। पीछे चलने का मतलब है कि आत्म कल्याण के लिये उन्होंने जो कुछ किया और जो कुछ करने को कहा, उसे हम भी करने का प्रयास करें।

क्या कहा उन्होंने और क्या किया उन्होंने? उन्होंने किया और कहा— राग हटाओ, विरागी बनो ताकि एक दिन वीतराग बन सको। उन जैसे ही वीतराग। तो राग से विराग की ओर बढ़ेंगे कैसे? सांसारिक सम्बन्धों और पदार्थों के प्रति अपने मोह और राग को घटाकर, अपनी मूर्च्छा और आसक्ति को क्षीण बनाकर तथा ममता के बंधनों को काट कर। कैसे होगा यह सब? इसके लिये मन को साधना होगा और अभ्यास को पुष्ट बनाना होगा ताकि विराग की निर्लिप्तता आने लगे। आसक्ति का उदय होने लगे तथा समता की समरसता फैलने लगे।

इन सारे लक्ष्यों की पूर्ति का या कि समता भाव के अभ्यास का सबल माध्यम है सामायिक व्रत। सामायिक व्रत आत्मा को स्वभाव में स्थित करने और स्थिर बनाने का व्रत है। यदि एक पुरुष प्रतिदिन एक सामायिक भी करता है तो समझिये कि वह समता योग की साधना, समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया तथा अपनी आन्तरिकता में प्रवेश करने और स्वभाव में स्थित होने का प्रयास करता है। वह प्रयास 48 मिनटों का ही होता है फिर भी उतने समय तक तो वह सावध क्रियाओं से निवृत्त रहकर आस्रव का निरोध तो करता ही है तथा दो करण तीन योग से पाप क्रियाओं का त्याग भी करता है। इस सामायिक के अभ्यास को ही बढ़ाते रहकर सम्पूर्ण जीवन का रूपान्तरण किया जा सकता है और राग से मुक्ति पाकर सम्पूर्ण विराग को ग्रहण करते हुए साधु जीवन में प्रवेश लिया जा सकता है। जैसे अविवेक से एक पुरुष पुण्य को पाप में बदल देता है उसी प्रकार विवेक धारण करके और अपने जीवन को बदल करके वह पाप को पुण्य में भी बदल सकता है और सम्पूर्ण विरागी बनकर वीतराग भाव से सम्पूर्ण कर्म क्षय करके मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है।

अपने विराग और स्वभाव को जांचिये

प्रतिदिन एक सामायिक के हिसाब से भी एक मुहूर्त की साधना हो तो एक माह में एक दिन (30 मुहूर्त) की साधना बन जाती है। यह व्रत तो इतना आसान है कि कोई भी इसे बिना बाधा स्वीकार कर सकता है। फिर एक-एक सामायिक को बढ़ाते हुए अपने साधना क्रम को विस्तार दे सकते हैं। क्या इतना-सा व्रत आप सब लेने के लिये तत्पर हैं? एक माह में सिर्फ एक दिन की समता साधना का व्रत, तैयार हैं न?

क्या कहूँ? आज का मानव पांचों इन्द्रियों के विषयों में इतना रच-पच गया है कि छोटा-सा व्रत ग्रहण करने की तत्परता भी सामने नहीं आती है। आयु और क्षमता न रहने तथा योग्य पुत्रों के कार्य भार संभालने को मौजूद होने पर भी जबरदस्ती दुनियादारी में भाग लेकर कर्म बंधन करते रहते हैं, फिर भी कहने को वीतराग देव के अनुयायी कहें तो उन्हें क्या कुछ कहा जाय?

वस्तु स्वरूप बतलाना मेरा काम है—समझना और अपनाना आपका। जरा चिन्तन-मनन करें कि आपकी अपनी वर्तमान वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से पहले व्रत की पालना में या कि अन्य व्रतों की पालना में कोई बाधा तो नहीं आती है। क्या उनसे कर्मों का भार हल्का हो रहा है या बढ़ रहा है? अरे वृद्धावस्था में पहुँचे हुए मेरे बंधुओ! आनन्दजी आदि श्रावकों की तरह पूरी निवृत्ति न ले सको तो ठीक किन्तु राग और ममता भाव को घटाने तथा विराग और समता भाव को पुष्ट बनाने के लिये अभ्यास साधना को बढ़ाते तो रहो। साधु जीवन का अनुभव लेते रहो और भावना रखो कि एक दिन उस जीवन को भी आप अपना सको।

इसके लिये यह आवश्यक है कि आप समय-समय पर अपने विराग भाव एवं स्वभाव की जांच करते रहिये कि कितना राग और विभाव छूटा है और कितने में आप लिप्त हैं। इस जांच से आपको सही दिशा में अपनी प्रगति का अनुमान लगता रहेगा। यदि अब भी नहीं चेते और ऐसा नहीं किया तो यह दुर्लभ अवसर हाथ से निकल जायेगा।

अपने स्वभाव को समझने तथा अपने जीवन को स्वभाव में स्थिर करने का इससे अच्छा और अवसर नहीं आयेगा। सभी भव्य आत्माओं को राग, विभाव, मोह, मूर्च्छा, आसक्ति और ममता के घेरों से निकल कर कमलवत् वृत्ति अपनानी होगी।

12

श्रंथियाँ— अमृत—विष

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे.....

परमात्मा की प्रार्थना भक्त जन करते ही रहते हैं। प्रार्थना का बाह्य रूप तो ठीक है किन्तु उसका वास्तविक मूल्यांकन उसके पीछे रहने वाली आन्तरिक भावना के आधार पर ही किया जा सकता है। बाहर से प्रार्थना तो आप कर रहे हैं किन्तु उस समय उसके लक्ष्य के सम्बन्ध में आपका क्या विचार और क्या चिन्तन चल रहा है वही अधिक महत्वपूर्ण होता है।

वर्तमान जीवन में कई लोगों के लिये ऐसी कई परिस्थितियाँ सामने आती हैं जिनसे उनके मन में आक्रोश और असन्तोष उभरता रहता है। उस व्यथित अवस्था में जब परमात्मा की प्रार्थना की जाती है तो अनायास ही मन में ऐसी लालसा उठ सकती है कि प्रार्थना करने से उसे सुख-सुविधा की पूर्ण सन्तोषप्रद सामग्री सुलभ हो जाय। चारों ओर से घबराया हुआ व्यक्ति सोचता है कि परमात्मा सर्वदर्शी हैं तो उनकी प्रार्थना और भक्ति करने से उसकी सभी समस्याओं का सुखकारी समाधान निकल आयेगा। ऐसी इच्छा रखते हुए इस प्रकार की मानसिकता वाले व्यक्ति परमात्मा की प्रार्थना और भक्ति करते हैं। क्या ऐसी इच्छा के साथ की जाने वाली प्रार्थना और भक्ति का सही स्वरूप माना जायेगा? क्या ऐसी प्रार्थना और भक्ति जीवन के वास्तविक लक्ष्यों की पूर्ति कर सकेगी? सांसारिक लालसाओं की पूर्ति का सम्बन्ध क्या परमात्मा से जोड़ना समुचित होता है? परमात्मा की प्रार्थना मूलतः क्या आत्मा को 'परम' बनने की प्रेरणा के लिये ही नहीं होती है? अतः प्रार्थना एवं भक्ति के सही स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

प्रार्थना और भक्ति का उद्देश्य

गीता में चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया गया है— 1. आर्त— जो नानाविध कष्टों से पीड़ित एवं व्यथित बनकर परमात्मा की भक्ति करते हैं।

2. अर्थार्थी—जो धन, सम्पत्ति, पद या सुख सामग्री की लालसा को पूरा करने के उद्देश्य से परमात्मा की भक्ति करते हैं। 3. जिज्ञासु—जो परमात्मा की भक्ति इस जिज्ञासा और अभिलाषा के साथ करते हैं कि उन्हें नये-नये ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होगा। तथा 4. ज्ञानी—जो ज्ञान एवं विवेक के साथ परमात्मा की भक्ति इस हेतु से करते हैं कि उनके स्वरूप को समझ कर वे अपनी आत्मा को भी वैसे ही परम पद तक पहुँचा सकें। गीताकार के अनुसार पहले दो प्रकार के भक्त निम्न कोटि के होते हैं तथा पिछले दो प्रकार के उच्च कोटि के क्योंकि जिज्ञासु सही विधि से भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो ज्ञानी भक्त अपनी भक्ति को उच्च स्तरों तक पहुँचा कर भक्ति की दिव्य महिमा को प्रतिस्थापित करता है।

अभिप्राय यह है कि प्रार्थना और भक्ति का उच्च स्तर वही माना गया है जो लौकिकता से हटकर अलौकिकता की ओर गतिशील बनावे तथा मन को सांसारिक पदार्थों की आसक्ति से दूर ले जाकर आत्म स्वरूप को समझने तथा उसे निर्मलतर बनाने की ओर आकृष्ट बनावे। सारपूर्ण बात यह है कि जो क्रिया-प्रक्रिया सांसारिक एवं शारीरिक सुखों की कामना से की जाती है, वह निम्न कोटि की कहलाती है और त्याज्य मानी जाती है। इसके विपरीत जिन क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से आत्मा का स्वरूप ज्ञान जागृत हो तथा जीवन में लोकहित की भावना प्रबल बने वैसी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं आदरणीय एवं आचरणीय होती हैं। दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ऐसी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को ही उच्च कोटि का महत्त्व दिया जाता है। अतः प्रार्थना एवं भक्ति के उच्च स्तरीय होने की कसौटी भी यही होगी कि उनकी आराधना से आत्म जागरण कैसा और कितना होता है तथा स्व-पर कल्याण की दिशा में अपना पुरुषार्थ कितने वेग और उत्साह से कार्यरत बनता है। परमात्मा की प्रार्थना और भक्ति करने वाला भक्त जितना अधिक अन्तर्मुखी बनेगा, उतनी ही उसकी प्रार्थना और भक्ति को प्रभावशाली मानेंगे।

पहले अन्तःकरण का संशोधन करें

संसार के समस्त प्राणियों में राजा रूप श्रेष्ठ प्राणी मानव होता है। मानव तन एवं जीवन में अपूर्व क्षमता ऐसी प्रभावशाली होती है, जैसी कि किसी भी अन्य प्राणी में नहीं होती। यदि मानव अपने तन तथा जीवन की गति को संशोधित करे और उसे सुव्यवस्थित बना ले तो वह उच्चतम विकास भी साध सकता है। लेकिन उसके तन और मन जब तक रोगी बने रहेंगे और स्वस्थ नहीं होंगे, तब तक वह आत्मिक विकास तो क्या करे—कुछ उल्लेखनीय कार्य

भी नहीं कर पायेगा। मानव चाहता तो यह अवश्य है कि वह मानसिक और शारीरिक रूप से तन्दुरुस्त रहे और उसके लिये खाने, पीने, औषधि आदि का भी वह पूरा ध्यान रखता है किन्तु उसे उस विधि का ज्ञान नहीं होता जिसके प्रभाव से स्वस्थता भीतर से उत्पन्न हो। यही कारण है कि उसे रोग से छुटकारा नहीं मिलता है।

तन, मन, जीवन की अस्वस्थता को दूर करने के लिये अन्तःकरण और भीतरी पक्ष का संशोधन आवश्यक है। संशोधन का यही आशय होगा कि वहां पहले से रोग के कीटाणु और विकार फैले हुए हैं। विकार मुक्ति के बिना स्वस्थता आती नहीं, इस कारण आन्तरिकता के विकारों को दूर करने के पुरुषार्थ को प्राथमिकता देनी होगी। अब जहां के विकार दूर करने हैं, उस स्थान को तो पहले देखना और जांचना पड़ेगा जिसका अर्थ हुआ कि उस स्थान तक पहुँचना होगा।

अब प्रश्न आ गया है कि उस स्थान यानी अपने ही अन्तःकरण तक पहुँचा जाय। उसमें प्रविष्ट होकर वहां की अस्वच्छता की, दोषों और विकारों की जांच की जाय तथा यह सोचा जाय कि किस प्रकार उस स्थल को स्वच्छ और स्वस्थ बना सकते हैं। यों यह सब आसान नहीं भी है और यों बहुत आसान भी है। केवल दृष्टि भेद की बात है। चित्त की एकाग्रता को थोड़ा-सा पैना बनावें और लगन लगा लें तो अपनी आन्तरिकता में—प्रवेश, अवलोकन तथा संशोधन—सभी प्रक्रियाओं में कोई कठिनाई नहीं। हम अपने भीतर के शत्रुओं को सरलता से पहचान सकते हैं और यह जान सकते हैं कि वे किस प्रकार हमारी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों को दूषित एवं विकृत बना कर हमारे तन-मन, जीवन को अस्वस्थ एवं रुग्ण बनाए हुए हैं।

आइये, इस विषय पर थोड़ा चिन्तन करें।

क्रोध से सर्वनाश

संसार के विषय-कषाय चक्र में भटकती हुई आत्मा नाना प्रकार के दूषणों एवं विकारों को अपने भीतर जमा करती रहती है और वे ही आत्म-स्वरूप को कलुषित बनाकर तन, मन जीवन को रागी बना देते हैं। इस रूप में ये दूषण और विकार आत्मोन्नति के शत्रु बन जाते हैं। अतः इन्हीं शत्रुओं को जीतने की जरूरत पड़ती है।

सांसारिक आत्माओं के साथ यथार्थ स्थिति यह रहती है कि ये शत्रु प्रतिपल आत्मा को रौंदते रहते हैं और उनके दमन चक्र में पिसती हुई आत्मा

संज्ञाहीन-सी बनी अपने वास्तविक विकास से वंचित रहती है। इन विकारों ने, जिन्होंने आज इस आत्मा को जीत रखा है, जब यह आत्मा जागृत बन जाय तो उसे इन्हीं विकारों को जीतना होगा। ये विकार ही यथार्थ में उस आत्मा के शत्रु हैं। आत्मा के शत्रुओं को पूर्णतः पराजित कर लेने के बाद ही तो अरिहन्त पद प्राप्त होता है।

इन आत्म-शत्रुओं में एक महाबली शत्रु होता है—क्रोध। इस क्रोध के विकार से सर्वनाश होता है। इस दृष्टि से इसके रूप और नुकसान पर विचार करें। क्रोध ही बड़ा दूषण, बड़ा विकार और बड़ा रोग है। जब तक मनुष्य के मन और वचन को दूषण देने वाला तथा तन का शोषण करने वाला यह शत्रु मनुष्य के भीतर बैठा रहता है और रक्त पीता रहता है, तब तक मनुष्य को न आन्तरिक स्वास्थ्य लाभ होता है और न ही उसका बाह्य शारीरिक स्वास्थ्य ही अच्छा रह सकता है। सच पूछें तो क्रोध की दशा में मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है और शारीरिक स्थिति रुग्ण बन जाती है। बाहर के शत्रु का कुछ भी बिगड़े या न बिगड़े अथवा बाहर कोई शत्रु भी हो या नहीं, किन्तु जो क्रोध के वशीभूत हो जाता है, उसके लिये तो यह क्रोध ही महाशत्रु साबित होता है। क्रोध करने वाले को उसका क्रोध ही पहले कुचल देता है। इतना ही नहीं, अगर क्रोध बहुत ही अनियंत्रित दशा में फैलता जाय तो वह मनुष्य के जीवन को ही खत्म कर देता है। अधिकांश आत्महत्याएँ अथवा अन्य अपराध क्रोध के आवेग में ही होते हैं क्योंकि एक क्रोधी मनुष्य अपना सारा विवेक खोकर अंधे जैसा हो जाता है।

इसी क्रोध रूपी शत्रु को जीतकर साधक अरिहन्त और वीतराग बनता है। गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछते हैं कि हे प्रभु! मेरे न चाहने पर भी पाप की तरफ ले जाने वाला ऐसा कौन सा बलशाली शत्रु है जो निरन्तर मुझे पाप की दिशा में खींचता रहता है? तब कर्मयोगी श्रीकृष्ण कहते हैं— क्रोध अपना बहुत बड़ा शत्रु होता है और ऐसा ही होता है काम, अतः इन्हें बलशाली शत्रु समझकर इनसे सदा बचते हुए चलना चाहिये।

क्रोध सर्वनाश करता है क्योंकि बाहर का शत्रु तो मनुष्य के शरीर पर आघात पहुँचाता है किन्तु अन्दर का शत्रु क्रोध शरीर का रक्त पीकर उसे जर्जर करता है, मन को पागल बनाकर दिशाहीन भटकाव में डाल देता है तो आत्म स्वरूप को कलंक कालिमा से ढक देता है। यह तन, मन और जीवन का सभी प्रकार से नाश कर देता है। इसी कारण क्रोध को सर्वनाशी कहा गया है।

क्रोध पर नियंत्रण का महत्त्व

क्रोध की स्थिति मनुष्य को दुर्गति की ओर ले जाने वाली है क्योंकि उससे मनुष्य का वर्तमान भी बिगड़ता है तो भविष्य भी बिगड़ जाता है। इसलिये यदि क्रोध पर नियंत्रण करना है तथा धीरे-धीरे इसे अपने जीवन से नष्ट कर देना है तो वणिक् बुद्धि के अनुसार लाभालाभ की दृष्टि से विचार करना होगा।

जब कोई व्यक्ति क्रोधावस्था में होता है तब उसके शरीर का काफी अधिक मात्रा में रक्त जल जाता है। वैज्ञानिकों ने भौतिक अनुसंधान के आधार पर एक व्यक्ति पर प्रयोग किये। उस की प्रशान्तावस्था में उसके रक्त का माप किया व रक्त के तत्त्वों की जांच की। उसकी क्रोधावस्था में फिर से उसके रक्त का माप किया गया तथा रक्त के तत्त्वों की जांच की गई। फिर दोनों अवस्थाओं की तुलना की तो पता चला कि एक बार के क्रोध में करीब एक पौंड रक्त कम हो गया। यही नहीं, क्रोध के बाद रक्त में एक प्रकार के विष का अस्तित्व भी पाया गया।

अब व्यक्ति क्रोध तो करता रहता है और समझता नहीं है कि उसकी मानसिक व शारीरिक शक्ति क्यों निरन्तर क्षीण होती चली जा रही है। फिर डॉक्टर के पास जाता है और कमजोरी की शिकायत करता है। तब उसे ग्लूकोज दिया जाता है और दशा गंभीर हो तो खून भी दिया जाता है। कई बार फिर भी स्थिति संभलती नहीं है। यदि यह रहस्य पहले से जान लेते कि क्रोध किस प्रकार मानसिकता को असन्तुलित बना देता है और शरीर के रक्त को कितना जला देता है और पहले ही क्रोध पर नियंत्रण कर लेते तो तन-मन की ऐसी हानि को बचा सकते थे।

मैं पूछता हूँ कि क्या अब भी आप क्रोध का त्याग करने के लिये तैयार हैं? सर्वनाश करने वाले क्रोध का नाश करने के लिये तो तैयार हो जाइये न! क्रोध कर-कर के आप अपना खून जला सकते हैं किन्तु किसी गरीब असहाय के लिये आपरेशन के वक्त खून देना हो तो शायद तैयार नहीं होंगे। जरा विचारिये कि आप अपने ही शरीर में क्रोध कर-कर के मारक विष पैदा कर रहे हैं जो आपके लिये हानिकारक हो सकता है। विष से भी क्रोध अधिक मारक होता है, फिर भी मानव गाढ़ी नींद में सोया है और क्रोध पर नियंत्रण पाने के सफल पुरुषार्थ से कतराता है।

यदि कोई आपको कहे कि आप एक हजार रुपया ले लो और मेरे से एक जहर का इंजेक्शन लगवा लो जिससे एकदम मरोगे नहीं। शरीर की साधारण

हानि ही होगी। क्या आप तैयार हो जायेंगे? कभी नहीं, तुरन्त इनकार कर देंगे, बल्कि उसे अपने पास से भगा ही देंगे। इसी प्रकार क्रोध की हानि से आपको सावचेत होना चाहिये। क्रोध उस जहर के इन्जेक्शन से भी ज्यादा घातक होता है और इस क्रोध को आप धर्म के चिन्तन से दूर कर सकते हैं, दबा सकते हैं और इस शत्रु को जीत सकते हैं।

क्रोध का नियंत्रण और दमन करने के लिये आपकी वैचारिकता जागनी चाहिये तथा मन का संकल्प मजबूत बनना चाहिये। जब क्रोध का मारक स्वरूप जान जाते हैं, फिर उससे बचने का उत्साह भी तो पैदा हो जाना चाहिये।

अमृत और विष की ग्रंथियाँ

इस बीसवीं सदी में जहां भांति-भांति के भौतिक विज्ञानों का विकास हुआ है, वहां मनोविज्ञान की गहराई में भी उतरने का प्रयास किया जा रहा है। यह पता लगाया गया है कि शरीर में कई ग्रंथियाँ ऐसी होती हैं जिनमें से मानसिकता के अनुसार रसस्राव होता है। इन्हें अमृत और विष की ग्रंथियों का नाम दिया गया है।

जिस समय शरीर में क्रोध का आवेश चढ़ता है—सारे शरीर में प्रकम्पन जैसी तीव्र गति होती है। उस समय अमृत सा रसस्राव करने वाली ग्रंथियाँ रुक जाती हैं तथा विष का रसस्राव करने वाली ग्रंथियाँ अधिक सक्रिय हो जाती हैं। वे ग्रंथियाँ तीव्र रूप से बहने लगती हैं। उनके ही असर से मुंह सूखने लगता है तथा विभिन्न अवयवों में ऐंठन शुरू हो जाती है। विष रस बढ़ने तथा अमृत रस बन्द हो जाने का कुप्रभाव सारे शरीर पर तात्कालिक रूप से भी पड़ता है और स्थायी रूप से भी शरीर क्षय होता है।

वर्तमान जीवन में मनुष्य का शरीर और मन क्रोध के कारण रुग्ण बन जाता है। चाहे वह कितना ही सोचे कि मेरा सर्वांगीण विकास हो रहा है किन्तु क्रोध के कारण सारा विकास ही नष्ट नहीं हो जाता है बल्कि विकास के साधन शरीर व माध्यम द्रव्य मन का भी क्षय होता चला जाता है। शारीरिक सुरक्षा मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर होती है। यदि मन ही क्रोध के विकार से ग्रस्त होकर जलता और क्षमताहीन होता रहे तो शरीर उसके बुरे प्रभाव से कैसे बच पाएगा? अभी तक शारीरिक चिकित्सा का ही ज्यादा चलन है जबकि मानसिक रोगी अथवा रोगों का मानसिक आधार अधिकांश में मिलेगा। इसलिये अगर आपको अपना मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य प्रिय है तो क्रोध को नष्ट करने के पुरुषार्थ में जुट जाओ। हर वक्त सतर्कता बरतो कि विष की ग्रंथियों से

रसस्राव न हो और रक्त में विकृति न फैले। अमृत की ग्रंथियाँ रसस्राव करती रहेंगी तो वे स्वास्थ्य को भी बनाये रखेंगी।

सन्तुलन-विधि अपनाइये!

प्रभु महावीर ने अपने आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट करके आत्मा पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त की तथा परमात्मा बन गये। तब उन्होंने सारे जगत् को भी यही उपदेश दिया कि अपने आत्म शत्रुओं को नष्ट कीजिये। उस समय उन्होंने भव्यजनों के लिये अपनी प्रथम देशना के रूप में गुंफित आचारांग सूत्र में फरमाया कि 'जो क्रोध को देखता है, वह अभिमान को देखता है, जो अभिमान को देखता है, वह माया को देखता है तथा जो माया को देखता है, वह लोभ को देखता है।'

क्या आशय है इस देशना का? क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय की कड़ियाँ हैं। जो एक कड़ी को देखता और जानता है वह दूसरी कड़ियों को भी देख और जान लेता है। जो क्रोध करता है, वह मान की चपेट में भी आता है और जो माया का प्रयोग करता है वह लोभ की लालसा में भी फंसता है। इस कारण जहां क्रोध से बचने की सावधानी लानी है, वहां मान, माया, लोभ और कषाय के सभी विकारों से बचने की भी सावधानी लानी होगी।

यह सावधानी कैसे आवेगी? इसके लिये सन्तुलन-विधि को अपनाने की सलाह दी गई है।

यह संसार विविधताओं से भरा पड़ा है। अच्छाई भी है बुराई भी है, नदियों के उपजाऊ मैदान भी हैं तो सूखे रेगिस्तान भी हैं। सद्गुणों के अनुपालक व्यक्ति भी हैं तो दुर्गुणों में लिप्त अपराधी भी हैं। साधारण-सी बात से ही समझिये कि सड़क समतल सपाट भी होती है तो सड़क पर चढ़ाव और उतार भी आते हैं। सन्तुलन की स्थिति को समझने के लिये एक साइकिल चालक का उदाहरण लीजिये। यों साइकिल चलाना पूरी तरह से सही सन्तुलन पर ही निर्भर करता है। यह हकीकत साइकिल चलाने वाले भली-भांति समझते होंगे। साइकिल के दोनों पहिये बिना सहारे खड़े नहीं होते लेकिन जब चलते हैं तो पैडल की मार के मुताबिक वेग से भी चलते हैं, किन्तु वे चलते हैं सिर्फ सन्तुलन पर। यदि चालक का सन्तुलन जरा-सा भी दाएं-बाएं बिगड़ जाय तो साइकिल और चालक दोनों जमीन पर गिर पड़ेंगे। अतः एक साइकिल चालक को सदा सावधान स्थिति में चलना होता है। वहां तनिक भी असन्तुलन या असावधानी को कोई स्थान नहीं होता।

साइकिल चालक जैसी ही सावधानी को सन्तुलन-विधि मान सकते हैं। प्रतिपल सावधान रहकर अपने सन्तुलन का निर्वाह करते हुए वह साइकिल चालक सुरक्षित रूप से मीलों चला जाता है।

सन्तुलन, सावधानी, सफलता

किसी को कहीं भी कोई गति करनी हो या किसी तरह का संघर्ष करना हो तो इन तीन अवस्थाओं पर ध्यान को केन्द्रित करना होगा। चाहे वह गति और संघर्ष तन का हो, मन का हो या जीवन का हो। यह गति विचारों की दुनिया में चल रही हो या सामने दिखने वाली सड़क पर। यदि बिना गिरे गंतव्य पर पहुँचना है तो सबसे पहले चाल में सन्तुलन की जरूरत होगी। इधर या उधर अधिक झुके तो वहीं गिर पड़ेंगे फिर गति या तो अवरुद्ध हो जायेगी या पथ भ्रष्ट हो जायेगी। सन्तुलन तभी बना रह सकेगा जब प्रतिक्षण सावधानी बरती जायेगी तथा सन्तुलन एवं सावधानी के तालमेल से ही सफलता प्राप्त की जा सकेगी। ये ही तीनों अवस्थाएँ एक सफल संघर्ष के लिये भी आवश्यक होती हैं चाहे वह संघर्ष बाहर के शत्रुओं के साथ हो या कि आन्तरिक शत्रुओं के साथ।

हम यहां आन्तरिक शत्रुओं के साथ संघर्ष की बात कर रहे हैं। क्रोध आदि विकारों को जीतने के लिये भी सन्तुलन, सावधानी और सफलता के संयोग की आवश्यकता होती है। समझिये कि यह सन्तुलन कैसे रखा जायेगा? इसकी विधि क्या होगी?

क्रोध आदि विकार पहले मन से भड़कते हैं, फिर उनका बाहर प्रकटीकरण होता है। तब सामने वाले को समझ में आता है कि आप ने क्रोध किया है। तदनन्तर क्रोध के दुष्परिणाम अनुभव में आते हैं, जैसे कि सामने वाले पर प्रतिक्रिया होना और घात-प्रतिघात की स्थिति का प्रकटीकरण, अपनी मानसिकता में उत्तेजना से विशृंखलता आना, शरीर में प्रकम्पन और रक्ताल्पता होना, विष ग्रंथियों का बहना आदि।

सन्तुलन-विधि का प्रयोग इस रूप में किया जायेगा कि क्रोध के भड़कते ही शीघ्रातिशीघ्र उस पर नियंत्रण पा लिया जाय तथा भविष्य के लिये सावधानी कड़ी कर दी जाय। समझिये कि किसी ने आपके साथ ऐसा ही व्यवहार कर दिया, जिससे आप अपने क्रोध को रोक ही नहीं पाए। किन्तु पहले से आपने क्रोध के घातक स्वरूप को समझा हुआ है और उसे नियंत्रित रखने का संकल्प भी लिया हुआ है। अतः मन में क्रोध के भड़कते ही आप सन्तुलन का कोड़ा हाथ में उठा लेंगे और उसे इस तरह मारने लगेंगे कि वह बाहर कतई प्रकट न हो

सके। थोड़ी देर में आप अपनी सावधानी से और वैचारिकता से क्रोध को मन के भीतर ही में दबोच देंगे। उसके बाद अपनी सावधानी का इस प्रकार विकास करते चले जायेंगे कि क्रोध मन में भी उत्तेजना पैदा न कर सके। सन्तुलन और सावधानी का यह लाभ होगा कि आपको क्रोध आया है—यह सामने वाला जान नहीं सकेगा इसलिये अपने बुरे व्यवहार पर उसे ही लज्जा आयेगी। इसके सिवाय क्रोध के घातक परिणामों के अनुभव से आप भी बच जायेंगे और सामने वाले को भी बचा लेंगे। अपने शरीर को भी पूरी तरह सुरक्षित रखेंगे और धीरे-धीरे मन की क्षति को बचाना भी सीख जायेंगे।

इस प्रकार यह सन्तुलन-विधि एक सावधान साइकिल चालक की तरह आपके जीवन की गति को भी निर्बाध एवं गतिशील बना देगी।

ज्ञान के शक्ति केन्द्र की सक्रियता सन्तुलन से

क्रोध की उत्तेजना हो या अन्य किसी विकार की, उसका पहला आक्रमण ज्ञान के शक्ति केन्द्र पर होता है। विकार के आवेश से मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट और नष्ट हो जाती है। तब वह आवेश हिंसापूर्ण भी हो सकता है। क्रोध से कांपता हुआ मनुष्य कब सामने वाले पर किसी घातक शस्त्र का वार कर देता है—इसका पता ही नहीं चलता। मेवाड़ की एक सत्य घटना है कि एक पत्थर की शिला को लेकर दो भाइयों में विवाद छिड़ गया। वह शिला भी मन्दिर की थी किन्तु दोनों के सिर पर क्रोध का भूत ऐसा चढ़ा कि वहीं एक दूसरे की जीवन लीला समाप्त करके शान्त हो गये।

किसी भी समस्या का समाधान कभी क्रोध से तो निकलता ही नहीं है, समाधान सदा शान्त बुद्धि से निकलता है और क्रोध की उत्तेजना में बुद्धि कभी शान्त रहती नहीं। इस कारण विकारों की उत्तेजना के समय यदि सही सन्तुलन-विधि का संकल्पपूर्वक प्रयोग किया जाय तो ज्ञान के शक्ति केन्द्रों की सक्रियता को बनाये रखा जा सकता है एवं समष्टिगत समस्या का शान्त बुद्धि से सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

चाहे गृहस्थावस्था का कोई कार्य हो या आत्मिक साधना का कार्य—वह विकार ग्रस्त हो जाने पर कभी नहीं सुधरता। क्रोध किया तो क्या ग्राहक व्यापारी के पास आयेगा और बीमार डॉक्टर के पास? और आत्मिक साधना के कार्य में तो विकार का कोई स्थान ही नहीं है। ध्यान रखिये कि आग से आग कभी नहीं बुझती है, वह पानी से बुझती है। क्रोध से क्रोध नष्ट नहीं होगा—उसके लिये क्षमा का शीतल जल चाहिये और क्षमा आयेगी सन्तुलन-विधि से।

सन्तुलन और सावधानी के साथ चाहे सामने अनीति हो, क्रोध हो या कोई भी अन्य विकार उसका प्रतिकार शान्तिपूर्वक किया जा सकता है बिना तन, मन और जीवन को किसी भी प्रकार की क्षति पहुँचाए। इसलिये यदि आपको परमात्मा की प्रार्थना और भक्ति जिज्ञासु एवं ज्ञानी भक्त की तरह करनी है तो आप अमृत एवं विष ग्रंथियों की सन्तुलन-विधि को अपनाइये तथा क्रोध आदि विकारों का दमन कीजिये ताकि आप अपने मानसिक एवं शारीरिक सुस्वास्थ्य के साथ धर्माराम्यन कर सकें।

दिनांक 24.08.1986

(जलगांव)

13

सादृशूत है लोक में सत्य

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी....

परमात्मा की महिमा का बहुत गुणगान किया गया है क्योंकि उसका स्वरूप मनुष्य की आत्मा से जुड़ा हुआ होता है। मनुष्य के तन में रहती हुई आत्मा ने ही अपना चरम हित साध कर परमात्मा का स्वरूप प्राप्त किया है। आत्मा ही तो 'परम' विशेषण से संयुक्त बनकर परमात्मा बनती है।

परमात्मा के प्रति सभी जीवात्माओं का पूर्ण विश्वास होता है क्योंकि उनका अपनी आत्माओं में विश्वास होता है। जो निज स्वरूप पर ही विश्वास नहीं करता है, वही परमात्मा के स्वरूप को अमान्य कर सकता है। परमात्म स्वरूप को शब्दों के बंधन में नहीं बांध सकते हैं। कारण, वह अव्यय, अखंड और अमर होता है। यह आत्मिक रूपान्तरण का ही विषय है। अगर अपनी इस आत्मा के स्वरूप का भी रूपान्तरण हो जाय तो वह भी परम पद के समान दीप्तिमान हो सकता है।

विश्वास का प्रश्न और विश्वास का संकट

यह विश्वास और दृढ़ विश्वास का ही प्रश्न है कि पाप पंक से लिपटी हुई संसारी आत्मा भी अपने सत्पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकती है। किन्तु इसके साथ ही आज के मानव के मन में विश्वास का ही संकट बना हुआ है। मानव चाहता है कि दुनिया मेरे ऊपर विश्वास करे, मुझे श्रद्धा का केन्द्र माने और अपनी कोई भी वस्तु मुझ पर पूरा भरोसा करके मेरे पास छोड़ दे। वह चाहता यही है कि उसे एक भी व्यक्ति अविश्वासी नहीं माने किन्तु विडम्बना यह है कि उसका अपना विश्वास अपने ही ऊपर नहीं है तो अपने आत्म स्वरूप की चरम परिणति पर भी नहीं है। यह अविश्वास ही आत्म-संकट बना हुआ है।

दूसरों से अपने लिये एक बात चाहो, लेकिन उसी बात का दूसरों के लिये

स्वयं पालन न करो—यह सत्य का भी संकट है। आपको सब विश्वासी समझें और कभी कोई आपमें अविश्वास व्यक्त कर दे तो आपको बहुत बुरा लगे, परन्तु आप सबमें विश्वास करें, जब यह प्रश्न सामने आता है तो आपका रुख पलट जाता है। यह दोहरा आचरण हो जाता है जिससे विश्वास का प्रसार नहीं होता। एक के अविश्वास से दूसरे में भी अविश्वास ही जागता है। असत्य से असत्य ही पैदा होता है। विश्वास और सत्य की ज्योति विश्वास और सत्य से ही प्रज्वलित होती है।

वर्तमान युग के दोहरे आचरण के कुप्रभाव से ही विश्वास और सत्य का संकट फैला हुआ है। कई बार मनुष्य के मन में विश्वास और सत्य का अंकुर फूटता है लेकिन वह सांसारिक वातावरण की कुटिलता में फंस कर उस अंकुर की ओर ध्यान नहीं दे पाता है। परिणाम स्वरूप वह अंकुर, जिसमें विशाल वृक्ष बनने की क्षमता होती है, झुलस कर सूख जाता है। एक अविश्वासी मन में भी ऐसे अंकुर बार-बार फूटते हैं पर वे पनप नहीं पाते हैं। जो अपने पर विश्वास नहीं करता है, समझिये कि वह विश्वास के वास्तविक स्वरूप को भी समझ नहीं पाता है।

पारस्परिक अविश्वास एवं अपने प्रति भी असत्याचरण के कारण आज विश्वासहीन और सत्यहीन वातावरण बना हुआ है। आज पति-पत्नी एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते हैं, पुत्र माता-पिता पर और माता-पिता पुत्र पर विश्वास नहीं करते हैं, फिर दूसरे सम्बन्धों की तो बात ही क्या है? ऐसा क्यों हो रहा है? इसका कारण अपने ही अन्तर्हृदय में खोजने के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं है।

सत्याचरण से विश्वास मिलेगा

दुनिया में विश्वास का बहुत ज्यादा महत्त्व होता है क्योंकि आपसी व्यवहार के अनेक कार्य विश्वास के आधार पर ही यथासमय और यथायोग्य रीति से पूरे किये जा सकते हैं। विश्वास से ही प्रामाणिकता उपजती है तथा प्रामाणिकता से प्रतिष्ठा मिलती है। प्रतिष्ठा व्यक्ति को समाज और राष्ट्र के विस्तृत क्षेत्रों में भी समुचित स्थान दिलाती है।

कई उदाहरण सामने आते हैं, जहां एक प्रामाणिक नौकर भी अपने मालिक के साथ विश्वासपूर्वक कार्य करते हुए सराहनीय प्रतिष्ठा अर्जित कर लेता है। यह एक विशेष प्राकृतिक तथ्य भी देखने को मिलता है कि मनुष्यों की अपेक्षा जानवरों में कई बार विश्वास पात्रता अधिक मिलती है। जैसे कुत्ता सबसे वफादार प्राणी माना जाता है। वह कभी अपना विश्वास नहीं तोड़ता,

बल्कि विश्वास रखने के लिये अपने प्राणों की बलि तक चढ़ा देता है। वह सतर्कता से अपने मालिक की रखवाली करता है। इसी प्रकार अन्यान्य कई पशु-पक्षियों में भी विश्वास की आदत मजबूत होती है। फिर मानव जैसे विचारशील और संवेदनशील प्राणी में अपने प्रति और सबके प्रति विश्वास का अभाव हो यह कितनी दयनीय स्थिति है।

मनुष्य जन्म केवल खाने, पीने, सोने और मर जाने के लिये ही नहीं मिला है। इसका बहुत ऊँचा उद्देश्य है और वह है कि इस जीवन की शक्तियों का अवलम्बन लेकर आत्मा का कल्याण किया जाय और उसे परम पद से विभूषित बना दिया जाय।

किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति कैसे हो सकेगी? विश्वास के माध्यम से जब मनुष्य की मानसिकता बलवती बन जायेगी। विश्वास का आदान-प्रदान और गठन कैसे होगा? एक शब्द में इसका उत्तर है कि सत्याचरण से होगा, क्योंकि विश्वास केवल सत्य की नींव पर ही फल-फूल सकता है। जब विचार, वाणी और कर्म में सत्य होगा और वह सत्य जब परीक्षित हो जायेगा, तब ऐसा कौन अभागा होगा जो उस सत्य पर कभी भी अविश्वास करे? जिस मानव के हृदय और मस्तिष्क में सत्य स्थिर स्वरूप ग्रहण कर लेता है, वही अपना उच्चतम विकास कर सकता है तथा संसार को भी विकास का मार्गदर्शन दे सकता है।

सत्य सदा जयी होता है। इसे कभी भी पराजय का मुख देखना पड़े—ऐसा नहीं होता है। सत्य ही जीतता है—यह आदर्श वाक्य है। जहां सत्य है, वहां अमित विश्वास है किन्तु सत्य ही को तो छोड़ दिया है आज के मानव ने। वह रात-दिन असत्याचरण में लगा हुआ है, हर कदम पर सत्य को दबाता है। कितनी भी पतित और दलित आत्मा हो, पहली बार तो उसकी वैचारिकता में सत्य ही फूटता है किन्तु वह उसको दबा देता है, अपने विचारों को असत्य से रंग लेता है, फिर असत्य ही बोलता है और असत्यपूर्ण ही व्यवहार करता है। असत्य का आश्रय लेकर दूसरों को ठगने में आज का मानव अपनी चतुराई मानने लगा है। दुःख तो यह है कि समाज और राष्ट्र में ऐसे चतुर व्यक्तियों की ही पूजा हो रही है। उन्हीं के पीछे दुनिया पड़ी रहती है और ईमानदारों या प्रामाणिकों की पूछ घटती जा रही है।

असत्याचरण का इतना असर बढ़ रहा है कि आदमी अपने किसी स्वार्थ के लिये तो झूठ बोले और धोखा दे वह तो ठीक लेकिन अकारण और निष्प्रयोज्य भी वह झूठ बोलता और धोखा देता रहता है। ऐसा लगता है जैसे

उसने अपने सारे जीवन को असत्याचरण की भेंट चढ़ा दिया है। ऐसे में विश्वास घटेगा ही, प्रामाणिकता टूटेगी ही।

यह हकीकत पूरे तौर पर भुला दी गई है कि सत्याचरण से ही विश्वास पैदा होता है, बढ़ता है और जमता है। कहने को और मानने को तो आज भी यही कहा जाता है कि झूठे पर कौन विश्वास करता है? मूल रूप से यह सही भी है कि कोई किसी झूठे पर विश्वास करना नहीं चाहता। यह तो समाज या राष्ट्र का समग्र वातावरण इस तरह दूषित और कलुषित बना दिया गया है कि सचाई और प्रामाणिकता चलती नहीं है। जो इन पर अटल रहना चाहता है उसे अपने काम काज में कदम-कदम पर ठोकें खानी पड़ती हैं। यही कारण है कि अधिकांश लोगों को मजबूर होकर असत्याचरण को अपनाना पड़ता है। हर किसी की यह ताकत नहीं होती कि सामूहिक वातावरण या कि व्यवहार प्रणाली से हर वक्त टक्कर ले सके। यह तो किन्हीं-किन्हीं लोगों की ही हिम्मत हो सकती है कि हवा या धारा से सामने से टकरावें और विरोध में चलें।

युग कितना ही बदल जाय या कि मानव अपने जीवन को कितना ही विकृत कर डाले, इस संसार में शाश्वत सत्य है कि सदा और सर्वत्र विश्वास का मूलाधार सत्याचरण ही रहेगा और प्रामाणिकता तथा प्रतिष्ठा भी उसी पर स्थिर होगी। बादल सूर्य को क्षणिक रूप से ढक सकते हैं लेकिन स्थायी रूप से तिरोहित नहीं कर सकते। उसी प्रकार असत्याचरण कभी सत्य के महा तेज को अप्रकाशित नहीं रख सकेगा।

सत्य ही लोक में सारभूत है

वीतराग देवों के वचन हैं कि सत्य ही इस समग्र लोक में सारभूत तत्त्व है। सत्य को महासमुद्र से भी अधिक गंभीर, सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर, चन्द्रमंडल से भी अधिक सौम्य, सूर्यमंडल से भी अधिक दीप्त, शरदकालीन आकाश से भी अधिक निर्मल एवं गंधमादन पर्वत से भी अधिक सुगंधित कहा गया है। सत्य ही विश्वास प्राप्ति का मुख्य साधन है। इसी कारण यश का मूल हेतु है, स्वर्ग का द्वार है और सिद्धि का सोपान है। लोक में जो भी मंत्र-तंत्र, जोग, जप, विद्या, जृम्भक, अस्त्र, शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं, वे सभी सत्य पर स्थित हैं।

इसी हेतु भव्य जन से कहा गया है कि सदा सत्य बोलो, सत्य ही का सेवन करो और सत्य की ही आराधना करके जन्म-मरण के महासागर को तिर जाओ। सदा सत्य से सम्पन्न होकर जगत् के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव

रखो। सत्य में दृढ़ रहो तथा सत्य में ही व्यवस्थित रूप से बुद्धि को नियोजित करके पाप कर्मों का क्षय कर दो।

सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि महासमुद्र के मध्य दिशा भूले हुए जहाज सत्य के प्रभाव से स्थिर रहते हैं, किन्तु डूबते नहीं हैं। सत्य के प्रभाव से जल का उपद्रव होने पर मनुष्य न बहते हैं, न मरते ही हैं बल्कि पानी की थाह पा लेते हैं। सत्य ही का यह प्रभाव है कि मनुष्य अग्नि में भी जलते नहीं हैं, पहाड़ से गिराये जाने पर भी मरते नहीं हैं, खड्गधारियों से घिर जाने पर भी अक्षत बाहर निकल आते हैं तथा घोर वध, बंध, अभियोग और शत्रुता से मुक्ति पा लेते हैं। सत्य से आकृष्ट होकर देवता भी सत्यवादियों के समीप बने रहते हैं।

सत्यवादी पुरुष माता की तरह लोगों का विश्वास पात्र होता है और गुरु की तरह पूज्य बनता है। स्वजन की तरह वह सभी को प्रिय भी लगता है। सत्य वचनों में भी निरवद्य-पाप रहित वचनों को प्रधान महत्त्व दिया जाता है। अपने स्वार्थ के लिये अथवा दूसरों के लिये, क्रोध से अथवा भय से, दूसरों को दुःख पहुँचाने वाला असत्य वचन न स्वयं कहे, न दूसरों से कहलावे या न ऐसा असत्य वचन कहने वाले का अनुमोदन करे।

संसार में साधु पुरुषों ने असत्य वचन की निन्दा की है क्योंकि असत्यवादी का कोई विश्वास नहीं करता, इसलिये असत्य से हमेशा दूर ही रहना चाहिये। जो मनुष्य भूल से भी ऊपर से सत्य का आभास देने वाली किन्तु मूलतः असत्य भाषा बोलता है उससे भी वह पाप का भागी होता है तब भला जान बूझ कर जो असत्य बोलता है, उसके पाप कर्म का तो कहना ही क्या? असत्य भाषण के फलस्वरूप प्राणी यहीं पर जिह्वा-छेद, वध और बंध रूप दुःख भोगते हैं। उनका लोक में अपयश होता है तथा उनकी धन-सम्पत्ति का भी नाश हो जाता है।

सत्य सदा जयी होता है

कोई पूछता है कि मैं तो हमेशा सत्य बोलता हूँ पर जहां जीव की हिंसा हो रही हो, वहां मैं असत्य बोलूँ तो क्या होगा? तब स्व. आचार्य श्री फरमाते थे कि सत्य का पक्ष कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि सत्य की हमेशा विजय होती है, चाहे उसमें विलम्ब हो जाय लेकिन जीतेगा सत्य ही। सत्य सदा जयी होता है।

सत्य और अहिंसा एक ही सिक्के की दो बाजुएं होती हैं। जहां सत्य है वहां अहिंसा है। जहां असत्य आ जायेगा, वहां अहिंसा भी नहीं टिकेगी।

असत्याचारी पुरुष कालान्तर में बड़ी से बड़ी हिंसा भी कर सकता है। छलकारी प्रयोग से कोई ऊपर से सत्याचरण का आडम्बर कर ले लेकिन वैसा आडम्बर टिकता नहीं है। यह एक विचित्र समानता होती है कि असत्य भी छिपता नहीं है और सत्य भी छिपता नहीं है, अस्थायी रूप से भले ही आच्छादन कर लिया जाय। सत्य के शत्रु भी सत्य को ढकने और सत्यवादी को कलंकित करने की कुचेष्टा करते हैं किन्तु आज तक ऐसा नहीं हुआ कि सत्य पर हमेशा के लिये पर्दा पड़ गया हो। यह अवश्य है कि सत्य के लिये भी संघर्ष करना पड़ता है तथा सत्य रक्षण का कार्य भी कई बार कठिनाइयों से भरा हुआ कार्य साबित होता है।

तीर्थंकर देवों को सत्य रक्षण के लिये अनेकानेक उपसर्ग सहने पड़े थे। जो सबकुछ सहकर भी सत्य का पक्ष नहीं छोड़ता है, सत्य उसके जीवन को दीप्तिमान बनाता ही है। सर्व सत्य के पक्षधर होने से ही तीर्थंकर, तीर्थंकर बनते हैं। सत्य की गति कभी नहीं छोड़ते इसीलिये चन्द्र और सूर्य सदा दीप्तिमान रहते हैं। उसी प्रकार साधकों को भी सत्य को अटल रखना चाहिये। जो अटल गति से सत्य के मार्ग पर चलता है, उस पर परिवार, समाज, राष्ट्र और सबका गहरा विश्वास प्रतिष्ठित हो जाता है।

महाभारत के घनघोर युद्ध में कौरवों और पांडवों दोनों की सेनाएँ मारी गईं, सिर्फ पांचों पांडव सुरक्षित रहे। युद्ध विराम एक शर्त पर हुआ कि अब बस दुर्योधन और भीम के बीच में गदा युद्ध होगा। उसमें होने वाली हार-जीत ही दोनों पक्षों की हार-जीत मान ली जायेगी। उस समय दुर्योधन की स्थिति बड़ी दयनीय थी। बड़े-बड़े वीरों के मारे जाने से वह मानसिक रूप से टूट चुका था। तब उसने सोचा कि 'धर्मराज युधिष्ठिर भले ही मेरे प्रतिपक्षी हैं, किन्तु वे सदा सत्य के पक्षधर रहते हैं अतः मैं उनकी सहायता ले सकता हूँ।' सत्य का ऐसा विश्वास होता है कि शत्रु भी उस विश्वास से आश्वस्त रहता है। वह धर्मराज के पास गया। धर्मराज ने दुर्योधन को देखते ही स्नेह से सम्मान किया और आने का कारण पूछा। उनके पास मानवीय शिष्टाचार था अतः दुर्योधन के अन्याय की कोई बात वे अपने व्यवहार में नहीं लाये। कहा है—वचने किं दरिद्रता? वचन में दरिद्रता क्यों रखी जाय? अपनी बोली स्नेह ओर सम्मानभरी ही होनी चाहिये। दुर्योधन ने अपने आने का कारण बताते हुए कहा—कल महाभारत का अन्त गदा युद्ध से किया जायेगा। उसमें जो जीतेगा, वही जीत उसके पूरे पक्ष की होगी। मैं आपसे यह पूछने आया हूँ कि इस गदा युद्ध में मेरी विजय कैसे हो सकती है? धर्मराज कुछ देर सोच में पड़े कि दुर्योधन मेरा शत्रु है और भीम मेरा सहोदर, फिर भीम को हराने का उपाय मैं ही कैसे बता सकता हूँ? किन्तु उनके

दिल में विचार उठा कि वह मेरे सत्याचरण पर विश्वास करके मेरे पास आया है, इसको भी निराश कैसे कर सकता हूँ? वे बोले—भैया, तुम्हारी विजय का उपाय तो तुम्हारे घर में ही है। तुम्हारी माता सत्यनिष्ठ और पतिव्रता नारी हैं। उसने विकट परिस्थितियों में भी पति की सेवा-सुरक्षा की है तथा पति के समान अंधी बनकर रही है अतः उसे अलौकिक दृष्टि प्राप्त है। यदि वह तुम्हारे शरीर को वात्सल्य दृष्टि से देखे तो शरीर के जिस-जिस अंग पर उसकी दृष्टि पड़ेगी वह-वह अंग या भाग, वज्र के समान अपराजेय हो जायेगा। कोई भी शस्त्र, वहां पर कुछ भी आघात नहीं कर सकेगा।

इस सत्य-सुझाव से दुर्योधन की प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। जहां वह सबको हताश दिखाई दे रहा था, सबने उसे इतना प्रसन्न देखा तो सभी आश्चर्य करने लगे। श्रीकृष्ण ने तो पूछ ही लिया—क्या तुम धर्मराज के पास गये थे? इस पर दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को सारा वृत्तान्त सुना दिया। श्रीकृष्ण ने तब उसे सुझाव दिया कि अपनी सती माँ के सामने गंगा होकर न चला जावे, कम-से-कम लंगोट लगाकर तो जाना ही। दुर्योधन बोला—क्या आप मुझे निरा मूर्ख समझते हैं!

दुर्योधन तब अपनी माँ के पास गया और धर्मराज द्वारा बताई दिव्य दृष्टि की बात कही। उनकी सत्यवादिता सन्देह से परे थी। गांधारी ने पूर्ण विश्वास करके अपने बेटे के शरीर को देख लिया, बस नहीं देखा तो शरीर का अधोभाग, सो उसके सिवाय सारा शरीर वज्रमय बन गया। माँ ने उसे बहुत समझाया कि जो सत्यवादी अपनी ही पराजय का रहस्य तुझे बता देता है क्या उसके प्रति तेरा कोई कर्तव्य नहीं बनता? तू गदा युद्ध मत कर और धर्मराज के समक्ष समर्पण कर दे। खैर, दुर्योधन को नहीं मानना था और वह नहीं माना। श्रीकृष्ण ने भी भीम को रहस्य की बात बता दी तथा गदा से चोट करने का दुर्योधन का शरीर स्थल भी बता दिया। फिर विजय भीम की ही रही।

कहने का तात्पर्य यह है कि सत्यवादी के समक्ष सत्य के सिवाय कुछ नहीं रहता। अपना स्वयं का हित भी नहीं। सत्य के प्रति उसका सम्पूर्ण जीवन समर्पित रहता है। इसी कारण सत्यवादी सदा विजयी होता है क्योंकि सत्य सदा जयी होता है।

सत्य से संस्कार सुधारिये

पुरुष वर्ग ने सत्याचरण को जितने अंशों में छोड़ रखा है, वह सबके सामने है। फिर भी माताओं और बहिनों के जीवन में अभी भी सत्य का आधार बना

हुआ है। वे संकल्प करें तो नई पीढ़ी में संस्कारों का संशोधन कर सकती हैं। यदि बच्चों के जीवन में भी सत्य के संस्कार ढल जायें तो आगे जाकर वे सत्याचरण की ओर उन्मुख हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सभी तरह का ज्ञान नहीं होता है। कई विषयों में ऊँची डिग्रियाँ कोई प्राप्त कर ले, उसे स्वतः ही धर्म का ज्ञान नहीं हो जाता है। धर्म के ज्ञान के लिये आन्तरिक चिन्तन की आवश्यकता होती है और इसी आधार पर सत्य के स्वरूप को समझा जा सकता है तथा सत्य को मन, वचन एवं कर्म से अपनाया जा सकता है।

शास्त्रकार कहते हैं दृष्टान्त के माध्यम से कि एक बगीचे में एक हजार नीम के पेड़ हैं और एक सौ आम के पेड़, तो वह बगीचा नीम के पेड़ों का बगीचा ही कहलायेगा। उसी तरह हर माँ के पास सत्यता का विश्वास नहीं है। आजकल देखें तो नाम के जैन अधिक हैं जो झट से हिंसा में भी प्रवृत्ति कर लेते हैं, असत्य को भी अपना लेते हैं। अतः सोचें कि मात्र नाम से ही जैन नहीं बनना है बल्कि इस जैन नाम में सत्य का आधार होना चाहिये।

आप देखते हैं कि आज जिसके पास धन अधिक होता है उसे धनिक या लक्ष्मी पुत्र कहा जाता है। लक्ष्मी के बैठने का स्थान कमल होता है, जिसके सम्बन्ध में कवि आनन्दधनजी कहते हैं—हे प्रभो, आपके चरण, कमल रूप हैं। आप सर्वदर्शी हैं। आप के चरण कमलों पर तीनों लोकों की सम्पत्ति अर्पित कर दी जाय तब भी वह आपके लिये तुच्छ है। दुनिया कहती है कि लक्ष्मी कमल में निवास करती है लेकिन कवि कहते हैं कि 'हे प्रभो, वह लक्ष्मी तो आपके चरणों में' विराजमान है और फिर भी वह आपके लिये तुच्छ है क्योंकि आपके पास चारित्र्य की जो परमोज्ज्वलता है, संयम का जो अनुपम तेज है तथा सत्य की जो अनन्त सिद्धियाँ हैं उनके सामने बेचारी इस भौतिक लक्ष्मी का क्या और कितना महत्त्व?

सत्य की सिद्धियाँ जिसे प्राप्त हों, उससे बड़ा सम्पत्तिशाली कौन हो सकता है? भगवान् महावीर स्वामी ने सत्य को भगवान् का सम्बोधन देते हुए अपने श्रावकों को सत्य का ही मार्ग दिखाया है। जो अपने समग्र जीवन में सत्य को समाहित कर लेता है, वही वीतराग देव की सच्ची आराधना कर सकता है। सत्य-साधक हमेशा सबके लिये विश्वसनीय भी होगा तो लोकप्रिय भी रहेगा।

जीवन का श्रेष्ठ सुधार और आत्म स्वरूप का उच्चतम विकास सत्य विचार, सत्य वचन तथा सत्य-आचरण के आधार पर ही किया जा सकता है। इस दृष्टि से यदि आप अपनी नई पौध को सत्य का आधार न दे पाये तो उनका

भविष्य में किस प्रकार का जीवन बनेगा, इसकी कल्पना करना भी भयावह जैसा है। आप देख रहे हैं कि वर्तमान युग में सामान्य सांसारिक जीवन भी कितना असत्यमय हो रहा है और यदि सत्य से पतित होते जाने का यही क्रम चलता रहा तो नई पीढ़ी के जीवन सुधार की आशा ही कैसे की जा सकती है? इसलिये समय रहते आगे की खेती को तो सुधार लीजिये। आपने अपने जीवन में जैसी भी विकृतियों को स्थान दे रखा हो, उन्हें अब निष्क्रिय बनाइये ताकि आपकी सन्तान आपको बुरे उदाहरण के रूप में न देख पाए। वैसे वातावरण में उन्हें यथोचित रीति से सत्य के संस्कार दीजिये ताकि उनका ही भावी जीवन नहीं, बल्कि परिवार, समाज और राष्ट्र के सामूहिक जीवन में भी सत्य का आधार बन सके और सत्य का प्रसार हो सके।

सत्य को वचन में बसा लें तब भी बहुत है

किसी भी विचार को कार्य रूप में परिणत करने वाले तीन माध्यम हैं—विचार, वचन और कर्म। मन में सबसे पहले एक विचार उठता है, वह भीतर ही भीतर एक प्रकाश्य रूप पकड़ता है। तब वह वचन में प्रकट होता है और काया के पुरुषार्थ से कार्य रूप में सम्पादित होता है। इन तीनों माध्यमों में से पहले यदि बीच के माध्यम वचन को पूर्णतः सत्याधारित बना दें तो धीरे-धीरे समग्र जीवन में सत्याचरण का समावेश किया जा सकेगा। कारण, मन में सभी तरह के विचार उठते हैं लेकिन यदि सत्य वचन की प्रतिज्ञा है तो वही विचार परिपक्व हो सकेगा तथा वचन के माध्यम से बाहर प्रकाशित हो सकेगा जो सत्य पर आधारित होगा। सत्य वचन की प्रतिज्ञा का दूसरा सुप्रभाव यह होगा कि जो वचन सत्यवादी के मुख से एक बार प्रकट हो गया है, कार्य सम्पादन में उसे उसका पूरा ख्याल रखना ही होगा। अतः सत्य वचन की पहले प्रतिज्ञा कर लें तब ही आप सत्याचरण के लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।

अब समझ लीजिये कि सत्य वचन क्या? जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताना सत्य वचन है। एक स्थान पर एक शब्द किसी अर्थ को बताता है और दूसरे स्थान पर दूसरे अर्थ को। ऐसी अवस्था में यदि वक्ता की विवक्षा सही है तो दोनों ही अर्थों में वह शब्द सत्य है। इस प्रकार विवक्षाओं के भेद से सत्य वचन दस प्रकार के बताये गये हैं— 1. **जनपद सत्य**—जिस देश में जिस वस्तु का जो नाम है, उस देश में वह नाम सत्य है। दूसरे देश में उस शब्द का दूसरा अर्थ होने पर भी विवक्षा से असत्य नहीं होता। 2. **सम्मत सत्य**—प्राचीन आचार्यों या विद्वानों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है उस अर्थ में वह

शब्द सम्मत सत्य है। पंकज शब्द से कीचड़ से पैदा होने वाले मेढक, शैवाल, कमल आदि कई अर्थ लिये जा सकते हैं, किन्तु सम्मत सत्य से पंकज का अर्थ कमल ही लिया जाता है। 3. **स्थापना सत्य**—सदृश या विसदृश आकार वाली वस्तु में किसी की स्थापना करके उस नाम से कहना स्थापना सत्य है। जैसे शतरंज के मुहरों को हाथी, घोड़ा कहना। 4. **नाम सत्य**—गुण न होने पर भी व्यक्ति या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर पुकारना नाम सत्य है। जैसे अंधे का नाम नयनसुख। 5. **रूप सत्य**—वास्तविक विशेषता न होने पर भी रूप विशेष को धारण करने से उस नाम से पुकारना। जैसे साधु वेशधारी को साधु कहना। 6. **प्रतीत सत्य** या **अपेक्षा सत्य**—अपेक्षा या तुलना से वस्तु को छोटी-बड़ी आदि कहना। 7. **व्यवहार सत्य**—जो बात व्यवहार में बोली जाती है जैसे मार्ग अमुक स्थान को जाता है। 8. **भाव सत्य**—एक अपेक्षा से बात कहना। तोते के कई रंग होने पर भी उसे हरा कहना। 9. **भोग सत्य**—किसी चीज के सम्बन्ध से व्यक्तिविशेष को उस नाम से पुकारना। जैसे लकड़ी ढोने वाले को लकड़हारा कहना। 10. **उपमा सत्य**—किसी बात के समान होने पर तुलना से कहना। इन दस भेदों का महत्त्व इस तथ्य में है कि कितनी सूक्ष्म सतर्कता और विवक्षा से सत्य भाषण किया जाना चाहिये।

अतः सत्याचरण का प्रारंभ सत्य भाषण से कर लीजिये ताकि सम्पूर्ण वातावरण में और नई पीढ़ी के जीवन निर्माण में सत्य का आधार पुष्ट बन सके। सत्य भाषा की संक्षिप्त व्याख्या है यथार्थ एवं अहिंसक भाषा। सत्य और अहिंसा का सुन्दर समागम बिठा लेंगे तो समग्र जीवन सत्यमय हो जायेगा।

14

सत्संग है सत्य का पोषक

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी...

स्वर्गीय आचार्य श्री फरमाते थे कि प्रायः सर्वत्र सत्संग के विषय में चर्चा होती है। जहां भी धार्मिक वातावरण बनता है, वहां सत्संग की बात होती है। सत्संग का अर्थ है सन्तों के पास जाना, उनकी वाणी सुनना, उनके पास बैठकर ज्ञान-चर्चा करना और जीवन को नये आचरण में ढालने का संकल्प लेना। इतना ही नहीं, सत्संग की महिमा बताते हुए तुलसीदासजी कहते हैं कि पतित पावन सन्तों का सत्संग करने से करोड़ों भवों के पाप नष्ट हो जाते हैं। लेकिन क्या दिन-रात पाप करते रहो और कभी आध-पाव घड़ी के लिये सत्संग कर लो, तब भी सारे पाप नष्ट हो जायेंगे? ऐसा सोचना उचित नहीं है। जब कोई श्रोता सन्तों के पास बैठता है, उनके प्रवचन सुनता है और सोचता है कि सन्तों की वाणी मेरे अनुकूल लग रही है या नहीं और अगर वह वाणी प्रतिकूल लग रही हो तो उसे ठुकरा दूं! श्रोता ऐसी भावना से सन्तों का सत्संग करता है और उनकी वाणी के विषय में इस तरह से सोचता है तो वह सत्संग का सही लाभ नहीं उठा सकता है।

यदि सन्तों के आध्यात्मिक चिन्तन को गहराई से समझो और उसे अपने अनुकूल मानकर तदनुसार अपने जीवन में संशोधन लाने का निश्चय करो, तभी वह सत्संग जीवन की उन्नति के लिये लाभदायक हो सकता है। सत्संग में दर्शन, श्रवण और चिन्तन का क्रम चलना चाहिये जिससे अपने विचारों के ऊपर उठते रहने का अवसर मिले।

सत्संग के अनुरूप आप बनें

इस संसार में सामान्य रूप से मनुष्य मोह-माया के जाल में पड़ा रहता है। यह अवश्य है कि ऐसी आसक्तिपूर्ण अवस्था में भी उसके मन में कभी-कभी सत्य की आवाज उठती है जो उसे उस जाल से बाहर निकलकर अपनी

अन्तरात्मा को देखने का आग्रह करती है, परन्तु वह उसे कई बार अनसुनी कर देता है, ठुकरा कर उसे भूल जाता है। इस प्रकार की मनोदशा में यदि उसे सत्संग का अवसर मिलता है तो उसकी उस आत्मा की आवाज को कुछ-कुछ बल मिल सकता है और धीरे-धीरे उस में मजबूती आ सकती है।

चिन्तन मन पर निर्भर करता है और चिन्तन के क्षणों में नाना विध विचार उसके दिल-दिमाग में उठते रहते हैं। वे विचार सही ही हों, यह जरूरी नहीं और यह भी जरूरी नहीं कि वे गलत ही हों। वे विचार सभी प्रकार के होते हैं। वे विचार विकारों की तरफ भी दौड़ते हैं तो बीच-बीच में विकारों से ऊपर उठने की चेतना भी जागती है। उसके दिल दिमाग में कुछ ऐसा असन्तुलन समा जाता है कि वह अपनी वैचारिकता के बारे में कुछ भी निर्णय नहीं ले सकता है। वह अपने आपको कोई भी योग्य निर्णय लेने में असमर्थ पाता है। ऐसे लोगों में विरले ही होते हैं जो यह समझ सकें कि जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वह सही है या गलत। सामान्य लोग, सामान्य विचारों के घेरों तक ही सीमित रहते हैं, जब तक कि सत्संग के प्रभाव से उनके ज्ञान और आचरण में आवश्यक परिवर्तन नहीं आ जाते हैं।

ऐसे सामान्य लोग जब सन्तों के सत्संग में जाते हैं तो कई तरह की प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते हैं। कई तो यह सोचते हैं कि हमारे विचार ही सही हैं और अगर सन्तों की वाणी उन विचारों के अनुकूल नहीं लगती है तो वे उस सत्संग से दूर हो जाते हैं। कई यह सोच कर सत्संग में पहुँचते हैं कि मुझे वहां अपनी इच्छित भौतिक समृद्धि पाने का कोई सफल उपाय मिल जाय। यही नहीं, कई तरह की भावनाएं और कामनाएं लेकर लोग सन्तों के सत्संग में पहुँचते हैं। तो क्या अपनी कामनाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति का ही साधन होता है सत्संग? आप चाहोगे कि सत्संग आपकी अनुकूलता के अनुसार चले और आपकी इच्छाओं की पूर्ति करे, क्या सत्संग की यह महिमा होगी? यह मनःस्थिति विचारणीय है।

ध्यान रखिये कि अपने स्वार्थों की पूर्ति के उद्देश्य से कोई कितना ही समय सन्तों के समागम में व्यतीत कर ले या उनकी वाणी भी घंटों सुन ले लेकिन उसके विकारपूर्ण जीवन में किसी परिवर्तन की अपेक्षा नहीं की जा सकती है।

सही स्थिति तो यह होती है कि सन्तों के सत्संग में पहुँचने वालों को वहां के वातावरण के अनुरूप अपने आपको बदलना और ढालना चाहिये। ऐसा क्यों? इस पर विचार करने के पहले सोचिये कि कोई सन्तों के सत्संग में जाना

क्यों चाहता है अथवा जाता क्यों है? क्या वह अपने को पूर्ण पुरुष मानकर वहां जाता है कि वहां जाकर वह सन्तों को मार्ग दिखायेगा? ऐसा तो शायद आप नहीं मानेंगे। सन्तों के सत्संग में जाने वाले की यह भावना तो अवश्य रहती होगी कि मैं विकारी व्यक्ति हूँ और सन्त पवित्रात्मा हैं सो वहां जाने से मेरा कुछ-न-कुछ भला ही होगा। तात्पर्य कि वह सन्तों के प्रति श्रद्धा लेकर ही सत्संग में जाता है।

तो वह सन्तों को अपना मार्गदर्शक मानता है। ऐसी स्थिति में उसे क्या करना चाहिये वहां जाकर? अपनी मनमानी करनी चाहिये अथवा सन्त जैसा निर्देश दें उस का हृदय से पालन करना चाहिये? मार्गदर्शन लेने जा रहे हैं तो उनका मार्गदर्शन लेना ही चाहिये यानी कि आप अपने व्यवहार और अपनी निष्ठा को सन्तों के सत्संग के अनुकूल बनावें, इसे आपको अपना प्रथम कर्तव्य मानना चाहिये। ऐसा मानकर सत्संग में सम्मिलित होंगे तो आत्म सुधार की दृष्टि से आप उस सत्संग से पूरा-पूरा लाभ भी उठा सकेंगे।

आत्मा को जागृत करे वह सत्संग

जो अपनी आत्मा को जगाने के लिये तथा अपने विकारी जीवन में उन्नतिकारी परिवर्तन लाने के लिये सन्तों के सत्संग में जाते हैं और वहां के अनुरूप अपने व्यवहार को ढालते हैं वे होते हैं सच्चे सत्संगी। और सच्चा सत्संग वह जो सोई हुई आत्मा को जागृति का मंत्र सुनावे। सत्संग कोई सांसारिक पदार्थों के लेन-देन का स्थल नहीं होता है। वहां के वातावरण में तो भाग लेने वाला आत्माभिमुखी और आत्मानन्दी बनने लगे—इसी में सन्तों के सत्संग की सफलता है।

एक शहर में एक फक्कड़ महाराज पहुँचे। उनका जीवन आकृति से तो ठीक लग रहा था। किसी का भी जीवन कैसा है—इसकी पहचान बाहर के चाल-चलन से हो सकती है। एक मिट्टी के घड़े में पानी नहीं है—इसका अनुमान बाहर के गीलेपन से लग सकता है। लेकिन किसी घड़े में पानी ही नहीं हो तो उस पर कोई विश्वास करेगा क्या? इसी प्रकार भगवान् महावीर का वचन है कि जिसके जीवन में संयममय त्याग ओत-प्रोत होता है, उसके अणु-अणु में भी उसकी झलक दिखाई देती है। उसका शरीर, हाथ, पांव और सभी जगह सत्संग की करुणा लिये हुए होता है। वे फक्कड़ महाराज भी सत्संग की करुणा को अपने जीवन में लेकर चल रहे थे। जिस शहर में वे जाते थे, बहुत ही मित बोलते थे—बस इतना ही कि वे फक्कड़ हैं और आन्तरिक शक्ति की यात्रा में चल रहे हैं। उन्हें शहर में आया हुआ जानकर नागरिकों में उत्साह का वातावरण बन गया और वे उनके समीप

पहुँचकर कहने लगे—महात्मन्, आप साधक मालूम होते हैं। ज्ञानी हैं सो हमें भी प्रबोध देवें। श्रोताओं को देखकर फक्कड़ महाराज ने पूछा—आप लोग किस विषय में सुनना पसंद करेंगे? उन्होंने कहा—हम तो भगवान् की बातें सुनने आये हैं। तो महात्मा बोले—पहले आप यह बताइये कि भगवान् हैं भी या नहीं? आपको भगवान् पर कितना विश्वास है? वे कहने लगे—हमारा भगवान् पर बहुत विश्वास है। महात्मा ने कह दिया कि जब उनका भगवान् पर बहुत विश्वास है तो उनके बारे में कुछ भी सुनने की जरूरत नहीं है और अगर आपका भगवान् पर विश्वास न हो तब भी मैं कुछ कहने की जरूरत नहीं समझता क्योंकि विश्वास नहीं तो कहने से क्या फायदा? यह बात सुनकर लोग वहां से चले गये।

कुछ दिन बाद फिर वे ही लोग फक्कड़ महाराज के पास पहुँचे। लोगों ने फिर भगवान् पर सुनाने का आग्रह किया। महात्मा ने फिर विश्वास की बात पूछी। तब आधे लोगों ने कहा—विश्वास है तथा आधे लोगों ने कहा—विश्वास नहीं है। महात्मा विचार में पड़ गये कि ये कैसे श्रोता हैं जो अनुकूल हो तो सुनें और प्रतिकूल हो तो ठुकरा दें। फिर महात्मा ने उन्हें सच्चा ज्ञान दिया तथा आत्मा को जागृत बनाने की प्रेरणा दी।

अभिप्राय यह है कि आत्म जागरण की भावना लेकर ही सन्तों के सत्संग में पहुँचना चाहिये। जिज्ञासु व्यक्ति तब अपने सारे विकारों को त्याग कर शान्त भाव से स्थिरतापूर्वक पूछें कि हमारे जीवन निर्माण के लिये हमको क्या करना चाहिये, इसका मार्गदर्शन दीजिये। वह अपनी पृच्छा में विनय को प्रमुख स्थान दे तथा विवेकपूर्वक व्यवहार करे। सन्तों के सत्संग से ऐसा जिज्ञासु व्यक्ति ही सच्चा ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन को विकास के पथ पर अग्रगामी बना सकता है। सत्य का चिन्तन जिसके मन में होता है, वही पुरुष सच्चा सत्संगी बनता है। वह अपनी आत्मा को जगाता ही जगाता है।

मनोनिग्रह से सत्संग का लाभ

किसी भी सत्कार्य में प्रवृत्ति करनी हो तो योग व्यापार को अवश्य ही नियंत्रित करना होगा। मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से मन, वचन और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्म प्रदेशों में होने वाले परिस्पंद, कंपन या हलन-चलन को भी योग कहते हैं। आलम्बन के भेद से योग के तीन भेद होते हैं—मन, वचन और काया। इसमें मन के चार, वचन के चार और काया के सात—इस प्रकार योग के कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

योगों में भी मनोयोग का विशेष महत्त्व होता है क्योंकि किसी भी कार्य का मूल उसके विचार में होता है तथा किसी भी विचार का उत्पत्ति स्थल मन होता है। अतः मनोयोग के चार रूप या कि चार भेद कहे गये हैं—

1. **सत्य मनोयोग**—मन का जो व्यापार सत् रूप होता है अर्थात् सज्जन पुरुष और साधुओं के लिये हितकारी होता है और उन्हें मोक्ष की ओर ले जाने वाला होता है, उसे सत्य मनोयोग कहते हैं। जीवादि पदार्थों के अनेकान्त रूप यथार्थ विचार को भी सत्य मनोयोग कहते हैं। जिसका मन सत्य के साथ जुड़ जाता है, वही सत्य का आस्वादन लेता है। वही परमात्मा और आत्मा के भेद को जान कर सत्संग का लाभ ले सकता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति स्व-पर कल्याण का प्रबल प्रेरक होता है।
2. **असत्य मनोयोग**—सत्य से विपरीत अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाले मन के व्यापार को असत्य मनोयोग कहते हैं। जीवादि पदार्थ नहीं हैं, एकान्त सत् हैं इत्यादि एकान्त रूप मिथ्या विचार भी असत्य मनोयोग ही कहलाते हैं।
3. **सत्य मृषा मनोयोग**—जो विचार-व्यवहार नय से ठीक होने पर भी निश्चय नय के अनुसार पूर्ण सत्य न हो, वह सत्य मृषा मनोयोग कहलाता है। जैसे किसी उद्यान में अशोक वृक्ष बहुतायत से हो तथा कुछ वृक्ष छव, खैर, पलाश आदि के भी हों तब भी वह अशोक उद्यान ही कहलायेगा। इसमें अशोक वृक्षों के होने से यह बात सत्य है और छव आदि वृक्षों के होने से मृषा (असत्य) है। अतः अशोक उद्यान नाम सत्य मृषा हुआ।
4. **असत्यामृषा मनोयोग**—जो विचार सत्य नहीं है और असत्य भी नहीं है, उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। सम्यक् सिद्धान्त का समर्थन सत्य होगा किन्तु एकान्त विचारधारा असत्य होगी। जहां वस्तु को सत्य या असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो, केवल वस्तु का स्वरूप मात्र दिखाया जाय।

इस दृष्टि से मनोनिग्रह करके जो मन को सत्य के ढाँचे में ढालकर सन्तों के सत्संग में पहुँचता है, वह सत्संग का पूरा-पूरा लाभ उठा सकता है।

सत्संग से सत्य का पोषण

कोई भी जिज्ञासु व्यक्ति जब सत्संग के रंग में रंगता जायेगा तो उसी अनुपात से उसकी सत्यनिष्ठा भी सुदृढ़ बनती जायेगी। कवि कहता है कि कमल

में जो मकरंद होता है, उसके रस का स्वाद लेने के लिये भंवरा कमल के चारों ओर मंडराता है लेकिन मेरा मन रूपी भंवरा इस बाहर के मकरंद से सन्तुष्ट नहीं है। वह तो आपके चरण रूपी कमल के गुण रूपी मकरंद का ग्राहक है और मेरा मन तो उसी मकरंद को प्राप्त करके शान्त होगा। वह ऐसा मकरंद है जिसका रसास्वादन कर लेने के बाद न धन-सम्पत्ति की लालसा रहती है और न भौतिक पदार्थों में गहरी आसक्ति। वह ऊँचे से ऊँचे सत्संग का अभिलाषी बना रहता है।

कुछ वर्षों पहले देहली में कुछ सन्त एकत्रित हुए थे। उनकी चाहत थी कि यदि राष्ट्र का कोई बड़ा नेता उनके पास पहुँचे तो अतीव सम्मान की बात होगी। यह बात उन्होंने अपने भक्तों को कह दी तथा तदनुसार प्रयास चालू हो गये। बड़े नेता आ भी गये और सन्तों को भी सन्तोष हो गया। आप जानते हैं कि नेता स्वयं आता है या बुलाया जाता है? सन्तों की चाहत नेता को ज्ञात हो गई थी, इस कारण अपने भाषण में नेता ने कहा—पहले के युग में राजा, महाराजा, सम्पत्ति, सम्मान, वैभव आदि ऋषि-मुनियों के पीछे भागते थे और ऋषि मुड़कर देखते नहीं थे लेकिन आज के युग में विपरीत स्थिति देखने में आ रही है कि सन्त-मुनि लोग नेताओं के पीछे भाग रहे हैं। सोचिये कि ऐसा सन्त जीवन किस प्रकार का होगा?

जिस सन्त जीवन में ही सत्य का पोषण देखने को नहीं मिलेगा तो वैसे सन्तों के सत्संग से भी सत्य का पोषण किस विध होगा—यह समझने की बात है। मानना पड़ेगा कि ऐसे सन्त सत्य की वास्तविकता को नहीं समझते हैं। जो सच्चा सन्त होता है उसे किसी भी नेता, पदधारी, सम्पत्ति या सम्मान के पीछे भागने की जरूरत नहीं होती है। जो स्वयं सन्त होकर भी अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये राजनेताओं की ख्याति के आगे अपने को झुकाता है, वह तो फिर सत्संग क्या होगा, एक व्यापार ही बन जायेगा। नेताओं को वोट चाहिये और सन्तों को वाह-वाही। फिर क्या है—दोनों एक दूसरे से सौदागरी करते रहेंगे। नेता सोचेगा कि मैं सन्तों के पास जाऊँ तो वहाँ बड़ा जन समुदाय मिलेगा, जिसे वह राजनीतिक रूप में अपने समर्थन में तैयार कर सकेगा ताकि चुनाव में एक समुदाय के लोगों के थोक में वोट मिल सकें। सन्त सोचेगा कि ख्याति प्राप्त नेता उसके प्रवचन में आवेगा तो उसके प्रभाव को भी चार चांद लग जायेंगे। किन्तु दोनों के मन में सत्य के रसास्वादन की चाह नहीं होती है जिसके बिना सत्संग का कोई मूल्य नहीं।

सत्संग से सत्य का ऐसा पोषण होना चाहिये कि जीवन की कैसी भी विकट परिस्थिति में सत्य का मार्ग न छूट सके। यह तभी हो सकता है जब सन्त

भी पूर्णतया सत्यानुगामी हो तथा जिज्ञासु व्यक्ति भी हृदय से सत्यनिष्ठ। ऐसा होने पर ही सत्संग के लिये प्रेरक वातावरण बनता है तथा सत्संग से जिज्ञासु व्यक्ति सन्तोषजनक रीति से लाभान्वित होते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य का विकास करके आत्मा को सर्वतोमुखी जागृत बनाया जाय—यही सत्संग का मुख्य लक्ष्य माना जाना चाहिये।

सत्यवादी सत्संगी पर सबका विश्वास होता है

सन्तों के समागम में रहकर जो सत्य एवं सत्संग से घनिष्ठता साध लेता है, उसकी बात पर सभी लोग हृदयपूर्वक विश्वास करते हैं। सभी लोगों में शासक वर्ग के लोग और यहां तक कि उसके शत्रुओं को भी सम्मिलित किया जा सकता है। एक सत्यवादी किसी को अपना शत्रु नहीं मानता क्योंकि वह पूर्ण रूप से अहिंसावादी भी होता है किन्तु जो उस सत्यवादी के प्रति शत्रुता के भाव रखता है, वह भी जहां तक सत्यवादी की विश्वसनीयता का सवाल है खुले दिल से कहेगा कि वह उसके वचनों में तो सत्तरह आना विश्वास करता है। यह निर्विवाद सही है कि सत्यवादी सत्संगी पर सबका विश्वास होता है।

पूणिया श्रावक बारह व्रतधारी था और उसने कभी भी सत्य का मार्ग नहीं छोड़ा। उसकी सत्यनिष्ठा से सम्राट् श्रेणिक भी प्रभावित था तो स्वयं भगवान् महावीर भी प्रसन्न। तभी तो सत्य और समता के अनुष्ठान सामायिक व्रत की बहुमूल्यता सिद्ध हो सकी। इस जमाने का एक किस्सा है कि ऐसा ही एक व्रतधारी श्रावक था जो सत्यवादी था। उसके एक पुत्र था। वह बड़ा होने पर उद्वंड हो गया और अपने पिता की आज्ञा के विपरीत चलने लगा। वह कहता था कि आपकी सत्यवादिता मुझे पसन्द नहीं है, मैं तो वही करूंगा जो करने को मेरा मन चाहेगा। इस तरह वह कुसंगति में पड़ गया और धीरे-धीरे चोर, लुटेरा और डकैत बन गया। पुलिस काफी कोशिश करके भी उसको पकड़ नहीं सकी। एक रात बहुत बड़ा डाका पड़ा। पुलिस को शक हुआ कि उसमें उस लड़के का हाथ हो सकता है। वह बुलवाया गया और उससे पूछताछ शुरू हुई। पूछा गया—डाका पड़ा उस रात तुम कहां थे? वह लड़का धड़क से बोला—मैं तो उस रात अपने बंगले में था। उसने झूठे गवाह खड़े करके राजा को भी बरगलाना चाहा तथा पुलिस को भी चकमा देने की कोशिश की। राजा ने फिर एक रास्ता निकाला। उसने सुझाव दिया कि इस लड़के का पिता पक्का सत्यवादी है। वह कभी भी, किसी भी हालत में झूठ नहीं बोलेगा, इस तथ्य की सही जानकारी के लिये उसके बयान ले लिये जायें।

सत्यवादी की विश्वसनीयता ऐसी होती है कि शासक भी उसकी बात का विश्वास करने को तैयार था जिसके स्वयं के पुत्र के ही अपराध का मामला था। सामान्य रूप से यही सोचा जाता है कि कैसा भी पुत्र हो किन्तु पिता उसको बचाना चाहेगा। किन्तु एक सत्यवादी पिता का सुप्रभाव अलग ही होता है। राजा ने लड़के को कह दिया कि तुम्हारे पिता के बयान के मुताबिक तुम्हारा फैसला कर दिया जायेगा। यदि आरोप सिद्ध होता है तो तुम्हें फांसी पर चढ़ा दिया जायेगा। तब तो पुत्र घर आकर पिता के सामने बुरी तरह से गिड़गिड़ाने लगा कि वे किसी भी तरह उसे फांसी पर चढ़ने से बचा लें। पिता ने यही उत्तर दिया कि कुसंगति में पड़ कर तूने मेरी बात नहीं मानी फिर भी तू पुत्र है और मुझे बहुत प्यारा है किन्तु यह भी ध्यान में रख लेना कि सत्य मुझे प्राणों से भी प्यारा है।

फिर पिता बयान के लिये बुलावे पर राजा के पास पहुँचे। राजा ने पूछा—डाका पड़ा उस रात आपका पुत्र कहां था? श्रावक ने स्पष्ट कहा—राजन्, मैं सत्य और विश्वास के साथ कहता हूँ कि उस रात मेरा पुत्र मेरे बंगले में नहीं था। राजा ने स्पष्ट बयान पर उस लड़के के लिये फांसी का फैसला सुना दिया। दूसरी ओर उसने श्रावकजी से कहा—मुझे गौरव है कि मेरे नगर में ऐसे सत्यवादी भी हैं जो पुत्र मोह से भी ऊपर सत्य को स्थान देते हैं। मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? श्रावकजी अपने पुत्र के पास गये और कहने लगे—यदि अब भी अपनी अपराध वृत्ति छोड़कर सत्य की शरण में आ सकता है तो तेरी जान बचाई जा सकती है। पुत्र ने जब वैसी प्रतिज्ञा कर ली तो श्रावक जी ने राजा को उत्तर दिया—आपका धर्म है कि आप अनीति का प्रतिकार करें, किन्तु अपराधी को कड़े से कड़ा दंड देने से ही अनीति को रोक नहीं सकते हैं। उसके लिये उसके हृदय को परिवर्तित करना होता है। मेरे पुत्र ने श्रेष्ठ परिवर्तन को स्वीकार कर लिया है। मेरा निवेदन है कि आप उसे अभयदान दे दें। इस पर राजा एकदम तैयार हो गया और श्रावकजी का पुत्र दंडमुक्त कर दिया गया।

सत्संग से खांडे की धार पर चलना सीखें

कहा गया है कि सत्य के मार्ग पर चलना खांडे की धार पर चलने के समान अति दुरूह होता है। विकार मुक्ति का मार्ग भी ऐसा ही दुरूह होता है तभी तो साधना की आवश्यकता होती है। खांडे की धार पर चलना सीखना है तो उसका अभ्यास सत्संग से ही आरंभ करें। सन्त स्वयं खांडे की धार पर चलते हैं, इस कारण वे ही आपको खांडे की धार पर पूरी स्थिरता से चलना सीखा सकते हैं।

अगर मनुष्य सचाई के मार्ग पर अविचलित रीति से चले तो वह फांसी के तख्ते से ही क्या लौटकर आवे—सम्पूर्ण पापमय क्रिया-प्रतिक्रियाओं से विमुख बन सकता है और आस्रव का निरोध कर सकता है। तांबा, सोना या पीतल के बर्तन टूटने पर जुड़ सकते हैं किन्तु मिट्टी के भांड एक बार टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ते। वह पुत्र तब तक मिट्टी का भांडा नहीं बना था सो पिता के सुधार ने उसे फिर जोड़ दिया।

मन के विकारों को जब तक घटा नहीं सकेंगे या मिटा नहीं सकेंगे तब तक इस जीवन का सांगोपांग संशोधन संभव नहीं है। इस संशोधन का सबल माध्यम बन सकता है सन्तों का सत्संग। जब सन्त भी खरा हो और सत्संगी भी खरा हो तो जीवन का समग्र रूपान्तरण सरल और सुलभ बन जाता है।

दिनांक : 26.08.1986

(जलगांव)

15

याचना नहीं, प्रार्थना

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घननामी परनामी रे...

परमात्मा की स्तुति से आत्मा का बल जागृत होता है क्योंकि यदि भावपूर्ण मुद्रा के साथ स्तुति की जाती है तो परमात्म स्वरूप के समक्ष रहने से यह बड़ी शक्तिदायक हो जाती है। इसका सदा ध्यान रखिये कि परमात्मा की स्तुति करने का अर्थ उनसे किसी प्रकार की याचना करना नहीं है। कारण, कोई भी याचना स्वार्थपूर्ति की दुर्बलता के उद्देश्य से की जाती है जबकि परमात्म स्वरूप का सांसारिक भौतिकता से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता है। जिज्ञासु अथवा ज्ञानी पुरुष जब परमात्मा की स्तुति करते हैं तो उनके हृदय में प्रार्थना की मधुरता ही होती है, कोई हीनमन्यता नहीं।

याचना क्या, प्रार्थना क्या ?

याचना का अर्थ होता है मांगना। मांगना किसी-न-किसी विवशता का सूचक होता है। सामान्य व्यवहार में भी लोग समझते हैं कि मांगना बहुत बुरी बात है। पड़ोसी से कभी कोई चीज मांगने की नौबत आ जाती है तो बड़ी मजबूरी और शर्म के साथ वैसा किया जाता है। इसका यह कारण भी है कि मांगने में दीनता या कि हीनमन्यता का कटु अनुभव होता है क्योंकि मांगना अपने ही किसी स्वार्थ को पूरा करने के उद्देश्य से होता है जिसे स्वयं पूरा करने में किसी भी कारण से अक्षमता समझी जाती है। अतः मांगना लज्जा और संकोच का प्रतीक भी होता है। तभी तो रहीम कवि ने कहा कि—जो मांगने जाता है वह तो मरे हुए के समान है ही लेकिन मांगने वाले को जो मना कर देता है, वह उस से पहले यों मानिये कि मर जाता है। तात्पर्य यह कि याचना से हीन भावना फूटती है और उससे आत्मबल घटता है।

दूसरी ओर देखिये कि प्रार्थना किसे कहे? प्रार्थना का शाब्दिक अर्थ होता है—निवेदन करना। निवेदन का रूप अधिकांशतः आत्म-निवेदन होता

है अर्थात् आन्तरिक आवाज को प्रकट करना। परमात्मा को अपनी कौन-सी आन्तरिक आवाज सुनानी है? एक व्यक्ति जब दर्पण के सामने खड़ा होकर कुछ गुणगुनाता है तो क्या वह अपना गीत या संगीत उस दर्पण को सुनाना चाहता है? और क्या दर्पण सुनता है? वह तो अपनी ही आकृति के प्रतिबिम्ब के सामने भीतर से कोई उद्गार निकल आता है। न दर्पण को सुनाना होता है और न दर्पण सुनता है। प्रार्थना का भी कुछ ऐसा ही स्वरूप होता है। परमात्मा का जो स्वरूप होता है उसे दर्पण के समान मान लीजिये। ऐसा स्वच्छ दर्पण, जिसमें अपना आत्म-स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है।

परमात्मा की स्तुति के समय ध्यान कहां पर केन्द्रित होना चाहिये? परमात्मा के परम स्वरूप पर ही तो न? उस स्वरूप दर्शन के सामने अनायास रूप से अपनी आत्मा का वर्तमान स्वरूप भी ध्यान में आ ही जाता है और उसके साथ एक तुलनात्मक दृष्टि भी जागृत हो जाती है। उस समय आत्म-विह्वल होकर जो निवेदन परमात्मस्वरूप रूपी दर्पण के समक्ष किया जाता है, वही सच्चे अर्थ में प्रार्थना होती है। क्या हो सकता है वैसी मानसिकता में वह निवेदन? यही न कि हे प्रभो, आप मेरे आत्म-स्वरूप को भी इतना ही निर्मल बनाने की प्रेरणा दीजिये। दर्पण प्रेरणा देता-लेता नहीं, वह तो हम ही प्रेरणा लेते हैं एक निमित्त को सामने रखकर। इसी कारण प्रार्थना से आत्म बल का अपूर्व रूप व्यक्त होने लगता है।

आर्त और अर्थार्थी याचक

आर्त उसे कहते हैं जो किसी भी प्रकार के सांसारिक कष्ट से पीड़ित होता है और उस कष्ट को किसी की सहायता से दूर कराना चाहता है। अर्थार्थी वह जो अर्थ-धन का इच्छुक हो इसलिये कि किसी के द्वारा धन मिले तो वह अपनी भौतिक सुविधाएं जुटा सके। ये दोनों एक विचार से याचक ही होते हैं जो किसी की दया की भीख चाहते हैं अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये। ऐसे याचक किसी समर्थ व्यक्ति से तो याचना करते ही हैं, अपनी गलत समझ के कारण यह भी मान लेते हैं कि वे अपनी याचना भगवान् से भी करें तो अधिक रीति से उनकी याचना सफल हो सकेगी। इसी कारण तो तरह-तरह के देवी देवताओं की प्रतिमा के सामने मन्तें मांगी जाती हैं। ऐसी याचना भगवान् से तभी की जाती है जब कोई अपने पुरुषार्थ में अपना विश्वास खो देता है और अपनी डोरी किसी अज्ञात हाथ में पकड़ा कर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। यह याचना कायर पुरुष की मनोदशा भी होती है।

जब आर्त और अर्थार्थी व्यक्ति अपने को परमात्मा का भक्त मानकर भक्ति रूप में उसकी स्तुति करते हैं और अपनी याचना करते हैं, तब वे अपने ही आत्म स्वरूप का अवमूल्यन नहीं करते, बल्कि परमात्म स्वरूप का भी अपनी दृष्टि से अवमूल्यन कर लेते हैं। आप मांगो, आप छोटे बनो, वह तो एक बात, किन्तु अपनी मांगणी के हल्केपन से परमात्मा को छोटा दिखाने की चेष्टा करो—यह तो जरा जघन्य बात हो जाती है। जिस पुरुष ने परमात्मा का सच्चा स्वरूप नहीं समझा है, वही इस प्रकार की याचक भक्ति कर सकता है। क्योंकि उनके मन में आत्माभिमुखी उत्तम भावना का अभाव होता है।

वस्तुतः आत्माभिमुखी उत्तम भावना जब उमड़ती है तो वह पुरुष किसी श्रेष्ठतम पदार्थ या तत्त्व को जानने की जिज्ञासा रखता है। ऐसे जिज्ञासु और ज्ञानी भक्त चाहते हैं कि परमात्मा में जिन दिव्य शक्तियों का सद्भाव है, उन्हें वे भी अपने आत्म बल, पुरुषार्थ और पराक्रम से उपार्जित कर सकें। ऐसी दिव्य शक्तियों के उपार्जन के माध्यम से भी वे सांसारिक बन्धनों को समाप्त करके मुक्त होना चाहते हैं।

बन्धन मुक्ति की प्रार्थना

जब तक इस आत्मा के साथ संसार के विविध बंधन जकड़े हुए रहते हैं, उसके कर्मों के आवरण पतले नहीं पड़ते हैं। आत्मा की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है और मोह-माया के कठिन बन्धनों में वह अधिकाधिक अटकती जाती है। आठ कर्मों के बन्धन बड़े ही जटिल होते हैं। इतने जटिल कि आत्मा एक पल के लिये भी उनसे छुटकारा नहीं पा सकती है। कर्मों का यह बंधन ही कर्माण शरीर होता है जो आत्मा द्वारा एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करने के मध्य काल में भी आत्मा के साथ संलग्न रहता है। और यों एक जीवन काल में भी कर्मों का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। पूर्व कर्मों की अवधि समाप्त होती है तो वे अपना भुगतान देकर नष्ट होते हैं परन्तु प्रतिक्षण नये-नये कर्मों का बंध भी होता रहता है। इस प्रकार जीवात्मा कर्म बंधन से तनिक भी छुटकारा नहीं पाती है।

सामान्य रूप से होता यह है कि आत्मस्वरूप पर कर्मों के बंधन निरन्तर गहरे और कड़े होते जाते हैं। इसे यों कहें कि जैसे घने काले बादलों की परत जितनी ज्यादा मोटी होती है उतनी ही सूर्य की चमक धूमिल पड़ जाती है और सूर्य का अस्तित्व तक ओझल हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के आवरण इतने मोटे और गहरे हो जाते हैं कि आत्म-स्वरूप पूरी तरह धुंधला हो जाता है तथा

चेतना कुंठित बन जाती है। कर्मों के बढ़ते हुए भार से आत्मसंज्ञा जैसे टूटती हुई चली जाती है।

आत्मा की ऐसी बंधन ग्रस्त एवं दुर्दशापूर्ण अवस्था में जब भी जरा-सी चेतना की विद्युत् रेखा चमकेगी तो क्या कोई उस भयावह बंधन से मुक्ति की अभिलाषा नहीं करेगा? प्रति क्षण अशान्ति के अंधड़ से जूझने वाली आत्मा क्या शान्ति की जरा-सी झलक तक पाने के लिये लालायित नहीं बनेगी? क्या कर्मों के भार से निर्बल और शक्तिहीन-सी बनी हुई आत्मा कातर भाव से परमात्मा की स्तुति नहीं करेगी और अपने बल व अपनी शक्तियों को जगाने की प्रार्थना नहीं करेगी? ऐसी प्रार्थना ही तो सच्ची प्रार्थना होती है जब आत्मा कर्मबंधनों से अपनी सम्पूर्ण मुक्ति के लिये अधीर हो उठती है।

यह अधीरता होती है सच्चे सुख और आत्मिक शान्ति का आस्वादन करने के लिये। यह अधीरता प्रार्थना में ही अभिव्यक्त होती है कि हे प्रभो, हमें भी अपने चरणों में स्थान दे दो, अपनी शरण में ले लो और अपने समान बना दो। ऐसी प्रार्थना आत्मिक शक्ति और शान्ति का बहुत बड़ा आधार बन जाती है। फिर आप सोचिये कि आत्मा को कर्म रूपी बंधनों से छुटकारा पाने के लिये परमात्मा की प्रार्थना आवश्यक है या नहीं। बन्धन मुक्ति ही इस जीवन का चरम ध्येय है।

प्रार्थना से निर्लिप्तता की प्रेरणा

व्यक्ति अपनी शक्ति को व्यय करता है अपने और अपने परिवार के निर्वाह में, उनकी हित साधना में। कभी-कभी सामाजिक या राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी वह अपना योगदान देता है। अनुकूल वातावरण बनता है तो कई बार उसे प्रतिष्ठा भी मिलती है। अन्य कारण भी ऐसे पैदा हो जाते हैं कि वह इन दायरों से बाहर निकलना चाहता है लेकिन निकल नहीं पाता है। इसके बाहरी कारण भी हो सकते हैं किन्तु मुख्यतः मन की लिप्तता होती है जो कर्मों के तद्गुरूप बंधन से आत्मा को ग्रसित कर लेती है। यह लिप्तता ही आसक्ति और ममता का मोहमय रूप लेकर कर्मबंधन की जटिल एवं कठिन स्थिति बन जाती है।

जो भव्य आत्माएँ वीतराग और तीर्थकर बनती हैं, वे भी इस विचित्र संसार की मोहमय परिस्थितियों में ही जन्म लेती हैं, किन्तु प्रारंभ से ही उनका निर्लिप्त भाव प्रबल होता है। उनका मन इस माया के बीच उलझता नहीं है। वे जीवन निर्माण एवं धर्माराधन को सदा समक्ष रखते हैं। इसी कारण संसार के समस्त शुभ संयोगों का भी त्याग करके वे प्रवर्ज्या अंगीकार करते हैं। पहले

अकेले ही कठिन साधना करके अपने कर्म दलों को नष्ट करते हैं तथा ज्ञान एवं चारित्र्य की दिव्यता धारण करके ही संसार के भव्यजनों को उपदेशामृत का पान कराते हैं। वे केवलज्ञान एवं केवल दर्शन की सम्प्राप्ति करके अरिहंत पदधारी बन जाते हैं।

यहां हम इन दिव्य पुरुषों की निर्लिप्त वृत्ति पर विचार कर रहे हैं। लिप्तता और निर्लिप्तता की अवस्थाओं का स्वरूप भी इस हेतु समझ लेना चाहिये तथा यह भी जान लेना चाहिये कि निर्लिप्त वृत्ति का निर्माण कैसे किया जा सकता है?

शास्त्रों और पुराणों में ऐसे महापुरुषों का वर्णन आता है जिन्होंने अपने जीवन में निर्लिप्त वृत्ति अपनायी तथा लोकसेवा में पूर्णतः समर्पित हो गये। लोकहित में प्रवृत्त पुरुष एक ओर स्वयं भोग विषयों में लिप्त नहीं होते तो दूसरी ओर संसार की फैलने वाली अनीति को भी सहन नहीं करते हैं तथा संघर्ष करना पड़े तब भी उस अनीति का सफल प्रतिकार करते हैं। यह निर्लिप्तता एवं लोकहित की प्रेरणा सच्ची प्रार्थना से ही प्राप्त हो सकती है। प्रार्थना की गंभीर मुद्रा में ही परमात्मा की अनन्त शक्तियों का दर्शन होता है और अनुभव होता है कि वे ही शक्तियां अपनी आत्मा में भी निवास करती हैं। यही दर्शन और अनुभव अपनी आत्मा को निर्लिप्त बनाकर आत्म-बली बनने का आह्वान करता है।

अन्याय का प्रतिकार प्रार्थना शक्ति से

प्रार्थना से ही यह दृष्टि मिलती है कि इस संसार में रही हुई सभी जीवात्माएं समान स्वरूपी होती हैं। इस आत्मीय समानता के विरुद्ध कोई यदि किसी भी प्रकार का अन्याय करता है तो एक जागृत एवं विवेकशील आत्मा को उस अन्याय का प्रतिकार करना चाहिये। किसी भी अन्याय को न सह सकने वाली और आत्मीय समानता को स्वीकार करने वाली दृष्टि प्रार्थना ही देती है। प्रार्थना ही उसके प्रति होने वाले किसी अन्याय से सफल संघर्ष करने की शक्ति भी देती है। कारण, प्रार्थना ही एक भावना भरा ऐसा अनुष्ठान होता है जो आत्माओं की समानता, उनकी उत्थान क्षमता तथा परमात्म महत्ता के प्रति विश्वास समुत्पन्न करता है।

आज कृष्ण जन्माष्टमी का प्रसंग है और यह भी ऐसा प्रसंग है जिससे कई प्रकार की प्रेरणा प्राप्त होती है। कृष्ण जन्म के पहले भारत की क्या अवस्था थी इसे भी जानना चाहिये। उस समय राजा कंस अनेक प्रकार से हिंसापूर्ण अनीति के कार्य कर रहा था जिससे पूरी प्रजा संत्रस्त थी। धीरे-धीरे उसने अनीति की

सभी सीमाएँ तोड़ दी और चारों ओर अन्याय ही अन्याय फैल गया था। कंस की ऐसी दुष्टता के लक्षण उसके गर्भ में होने के वक्त ही प्रकट हो गये थे। जैसे भव्य पुरुष का जीव जब अपनी माता के गर्भ में आता है तो शुभ स्वप्न आदि दिखाई देते हैं, उसी प्रकार जब कंस का जीव अपनी माता के गर्भ में आया था तब उसकी माता के मन में बड़े अशुभ संकल्प पैदा हुए थे। ऐसा कुसंकल्प भी कि वह अपने पति के कलेजे का मांस खाए। यह बड़ी विचित्र बात थी। गर्भ में आते ही ऐसी पाप भावनाओं से यह संकेत मिल गया कि भविष्य में क्या होगा। कंस की माँ को ऐसे संकेत से बड़ा ही दुःख हुआ था। इस कारण अपने पुत्र का जन्म होते ही उसे पापी मानकर एक कांसे की पेटी में बंद करके नदी में बहा देने के लिये भेज दिया। नदी में बहते-बहते वह पेटी वासुदेव को मिली थी। खैर यही कंस बड़ा होकर दुष्ट प्रवृत्तियों में लगा। अपनी प्रजा को त्रास ही नहीं देने लगा बल्कि अपने अग्रजों से भी संघर्ष करने लगा था। एक प्रकार से उसके अनीति पूर्ण राज्य में त्राहि-त्राहि मची हुई थी।

कंस ने वासुदेव और देवकी को कारागार में पटक रखा था। किसी भविष्यवक्ता ने बता दिया था कि वासुदेव और देवकी की सन्तान के हाथों ही कंस का जीवनान्त होगा, अतः उसने निश्चय कर लिया था कि इन दोनों की प्रत्येक सन्तान का वह जन्म के साथ ही खात्मा करता चला जायेगा। कंस के साथ अन्य अन्यायी राजा जरासंध और शिशुपाल भी जुड़ गये थे। इस प्रकार उस पूरे क्षेत्र में अत्याचार का साम्राज्य हो गया था।

कंस की ऐसी पापपूर्ण प्रवृत्तियों को देखकर उसका छोटा भाई अतिमुक्त कुमार सोचने लगा कि जिसने अपने माता-पिता के साथ भी ऐसा दुर्व्यहार किया है उस भाई के साथ रहना अब उसके लिये निरापद नहीं है। वह उस समय उसके अन्याय का प्रतिकार करने में समर्थ नहीं था अतः व्यथित होकर एक महात्मा के पास पहुँचा। वहाँ उनकी वाणी सुनकर वह उनके पास ही दीक्षित हो गया। फिर भी उसके मन में यह बराबर लगी हुई थी कि वह कंस के अन्याय का प्रतिकार करेगा और उसकी अनीति को समाप्त कर देगा।

सामान्य जन में भी विरोध का साहस

यह प्रार्थना की ही गहराई हो सकती है कि अन्याय का प्रतिकार करने तथा उसके विरोध में खड़े होने का साहस सामान्य जन भी जुटा सकते हैं। प्रार्थना की नियमित प्रवृत्ति से आत्मबल बढ़ता जाता है और निश्चित मानिये कि एक आत्मबली बड़े से बड़े संकट से टकराकर उसमें सफलता प्राप्त कर

सकता है। इस प्रकार जब जनता में अन्याय का प्रतिकार करने का सामर्थ्य पैदा हो जाता है तब अनीति की गहरी जड़ों को भी निर्मूल कर देने में अधिक समय नहीं लगता।

इस संदर्भ में एक यह सत्य भी समझ लेना चाहिये कि जो परमात्मा बन जाते हैं, वे सिद्ध स्थिति से अन्याय का प्रतिकार करने के लिये वापस संसार में नहीं आते हैं। आत्मा के समस्त आन्तरिक बन्धनों से मुक्ति पा लेने के बाद तो उसका जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। अतः वैसी आत्मा फिर से जन्म नहीं लेती है। यह सिद्धान्त मान्य करना चाहिये कि आत्मा से ही परमात्मा बनता है और नर से ही नारायण होता है। जन्म लेते ही कोई सिद्ध पुरुष नहीं हो जाता है। सिद्ध पुरुष बनने वाला भी अपने जीवन में विकारों और अन्यायों से लड़ता है, साधना की ऊँचाइयों पर पहुँचता है तथा कर्मों के समस्त बन्धनों को तोड़कर मुक्ति के परम पद को प्राप्त करता है। उसके जीवन निर्माण में भी प्रार्थना का बहुत बड़ा योगदान होता है। वह अन्याय का प्रतिकार करके और सर्वत्र न्याय को प्रतिष्ठित बनाकर ही महानता को प्राप्त करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि लोकहित को साधकर तथा अधिक से अधिक लोगों को सुख और शान्ति का सन्देश देकर कोई भी आत्मा स्व-पर कल्याण के क्षेत्र में अग्रगामी बन सकती है। भगवान् ही पुनः अवतार लेकर आते हैं और अन्याय का प्रतिकार करते हैं, यह मानना सही नहीं है। यह अवश्य होता है कि पूरे आत्मबल के साथ जो अन्याय का प्रतिकार करने के लिये खड़ा होता है, उसकी प्रेरणा से सामान्य जन में भी अन्यायियों का विरोध करने का साहस पैदा हो जाता है।

अवतारवाद की मान्यता

धार में जिला कांग्रेस कमेटी के तत्कालीन अध्यक्ष वकील श्री सिद्ध नाथ जी उपाध्याय ने मेरे से पूछा कि क्या यह सही नहीं है कि जब-जब अनीति बढ़ जाती है तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं? तब मैंने कहा—आप भगवान् को मानते हैं? और गांधीजी को आप महात्मा क्यों कहते हैं? वकील ने कहा—क्योंकि उन्होंने मृत्यु के समय भी अपने पर गोली चलाने वाले गोड़से के लिये कहा कि भगवान् इसका भला करें। अपना बुरा करने वाले का भी जो भला चाहे, वह महात्मा ही तो होगा। फिर मैंने पूछा—अब बताओ कि महात्मा बड़ा या परमात्मा? उन्होंने कहा—परमात्मा बड़ा है। क्योंकि महात्मा से परमात्मा बना जाता है। तब मैंने समझाया कि जब महात्मा भी दुष्ट को दंड नहीं देना चाहता है बल्कि उसका भी भला ही चाहता है तो फिर भला परमात्मा

तो महात्मा से भी ऊँचा होता है। उसके लिये तो दुष्टों को दंड देने की बात सोची भी कैसे जा सकती है? फिर यह कैसे सही हो सकता है कि परमात्मा अवतार लेकर दुष्टों का दमन करते हैं।

वस्तु स्वरूप का सही ज्ञान करने के लिये अनेकान्त की दृष्टि चाहिये। जहां श्रीकृष्ण के दुष्ट का दमन करने के लिये अवतार की बात कही है, वहीं आगे यह भी कहा है कि जहां से मुझे पुनः लौटकर नहीं आना है, वही परमधाम है। एक बार आत्मा मुक्त होकर जब परमात्म स्वरूप का वरण कर लेती है तो वैसी सिद्ध आत्मा कभी भी फिर से इस संसार में या कहीं भी जन्म नहीं लेती है।

वास्तव में जो पुरुष प्रार्थना द्वारा प्राप्त आत्मबल के प्रभाव से सफलतापूर्वक अन्याय का प्रतिकार कर लेता है, वह जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हो जाता है और श्रद्धावश लोग उसे ही अवतार मान लेते हैं। गांधी जी तो अभी-अभी हुए हैं, उन्होंने भी जिस आत्मबल से विदेशी शासन का विरोध किया तथा समग्र जनता को भी अहिंसा के मार्ग से आन्दोलन करने की प्रेरणा दी, उसी आत्मबल की वजह से ही वे महात्मा कहे गये और अब पिछली पीढ़ी के ऐसे कई भोले लोग भी मिलेंगे, जो उन्हें अवतार कहने लग गये हैं।

सच बात यह है कि अन्याय का प्रतिकार करके जो सामान्य जनता को अन्यायी के कष्टों से मुक्ति दिलाता है, उसे जनता श्रद्धावश अवतार ही मान लेती है। अवतार का यह अर्थ कभी नहीं होता कि सिद्धात्मा और परमात्मा फिर से इस संसार में जन्म लें।

प्रार्थना की गहराई में आत्मलीनता

प्रार्थना का माहात्म्य अवर्णनीय होता है। प्रार्थना का अर्थ, मात्र नाम जपना ही नहीं है बल्कि अन्तरात्मा की गहराइयों में उतर कर स्वरूप दर्शन करना है। उसमें परमात्मा का स्वरूप भी देखें और अपनी आत्मा का स्वरूप भी देखें। फिर दोनों की निर्मलता की तुलना करें। यानी परमात्मा के पूर्ण निर्मल स्वरूप की तुलना में जांच करें कि अपनी आत्मा पर कर्मों का कितना मैल चढ़ा हुआ है? यह जानकर ही प्रार्थना से प्राप्त आत्मबल के प्रयोग से कर्म मुक्ति का पुरुषार्थ प्रारंभ किया जा सकता है।

प्रार्थना में जितने गहरे पहुँचा जाता है, उतना ही आत्मलीनता भाव प्रबल होता जाता है। इसलिये परमात्मा की प्रार्थना करके अपनी आत्मा को जागृत और शक्तिशाली बनाना चाहिये। यदि आप नित प्रति प्रार्थना करने का संकल्प ले लें और अपने संकल्प को पूरा करें तो इस जीवन को विकसित बनाकर

स्व-पर कल्याण साध सकते हैं। प्रार्थना में आपकी निष्ठा गहरी बनेगी तो सत्य में भी आपकी आस्था प्रगाढ़ हो जायेगी। जो सत्य का अनुसरण करता है, वह अहिंसक होता ही है। इस रूप में प्रार्थना की अभित शक्ति होती है जो जीवन के विकारों को नष्ट करती हुई उसे सद्गुणमंडित बना देने की सफल प्रेरणा देने वाली होती है।

इसलिये याचना और प्रार्थना के अन्तर को समझते हुए प्रार्थना की महत्ता का सही मूल्यांकन करें और प्रार्थना के माध्यम से आत्मलीन बनते हुए आत्मानुगामी और आत्मानन्दी बनें।

दिनांक 27.08.1986

(जलगांव)

16

अन्याय को सहना अन्याय है

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घननामी परनामी रे...

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी प्रतिवर्ष आती है। यों देखें तो अष्टमी केवल एक मिति है। मिति रात-दिनों की एक नक्षत्रीय प्रक्रिया होती है, जो ग्रहों के हलन-चलन के आधार पर चलती है। जिस मिति के साथ किसी भी प्रकार से किसी महापुरुष का सम्बन्ध जुड़ जाता है, उस मिति को एक प्रकार से विशिष्ट महत्त्व मिल जाता है। यह जो इस जन्माष्टमी का आयोजन है, वह महान् कर्मयोगी और धर्म योगी श्रीकृष्ण का पुण्य स्मरण है।

श्रीकृष्ण का एक नाम हरि भी है

श्रीकृष्ण के कई नाम हैं जिनमें एक नाम हरि भी है। इसके विषय में प्राचीन कवि की एक रचना है, जिसमें कवि का संकेत है कि 'हरि के गुण गाऊँ, हरि के गुण गाऊँ।' हरि के गुण क्यों गाओ तो कहा गया है कि जो वह विशेष नाम हरि है, वह विशेष गुण संपदा से युक्त है।

हरि शब्द की परिभाषा संस्कृत विद्वानों ने की है—'हरति जनानां सुखनामिति हरिः' अर्थात् जो जनता के सुखों को हरता है, वह हरि कहलाता है। जनता की सुख शान्ति का हरण करने वाला। कृष्ण जन्म के पहले जनता की सुख शान्ति का हरण करने वाले थे कंस, जरासंध, शिशुपाल आदि राजा, जो प्रजा पर भारी अत्याचार कर रहे थे। क्या आज के युग में भी ऐसे कई लोग हैं जो जनता की सुख-शान्ति का हरण कर रहे हैं?

दूसरी परिभाषा है 'हरति उद्यानानां शोभामिति हरिः' अर्थात् जो उद्यानों की शोभा का हरण करता है वह हरि है। सुन्दर उद्यान हो, फल-फूलों से परिपूर्ण, जहाँ अनेक प्राणी—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विश्राम पाते हों। ऐसे रमणीय उद्यान में एक प्राणी ऐसा होता है जो भीतर घुसकर फूल-फल तोड़ता है, डालियों पर उछल कूद करता है और उसकी शोभा को तहस-नहस कर देता

है क्या आप जानते हैं उस प्राणी का नाम? इस प्राणी का नाम है वानर यानी बन्दर जो उद्यान के उत्पादनों का उपयोग कम करता है, हानि अधिक करता है। वह उस उद्यान की शोभा बिगाड़ देता है। उसका नाम भी हरि है।

तीसरी परिभाषा है जो वास्तविक अर्थ का प्रतिपादन करती है श्रीकृष्ण के जीवन के संदर्भ में। यह है— 'हरति जनानां दुःखानामिति हरिः' अर्थात् जो जनता के दुःखों का हरण करता है, वह हरि है। दुःखों का हरण करने का अर्थ है दुःखों के कारणों को दूर करना, दुःखों से रक्षा करना तथा सभी प्रकार से सुख और शान्ति पहुँचाना।

श्रीकृष्ण जन्म से पूर्व का घटना चक्र

प्राचीन काल में श्रीकृष्ण के जन्म से पूर्व जैसी दशा थी, वैसा ही कुछ दृश्य भगवान् अरिष्टनेमि के समय में भी था। जनता पर अत्याचार ढाए जा रहे थे। वह उसके दुःख द्वंद्वों में झुलस रही थी। उन दुःखों का हरण करने के लिये मानव देहधारी ही तत्पर होता है किन्तु पूर्व जन्म के पुण्योदय से उसे विशिष्ट पुरुष की संज्ञा दी जाती है। जनता पर अत्याचार की आपत्तियाँ श्रीकृष्ण के जन्म से पहले भी मंडरा रही थी और उन आपत्तियों से जनता को उबारने के लिये ऐसे ही विशिष्ट पुरुष की आवश्यकता थी। श्रीकृष्ण के जन्म के समय में भी कई आपत्तियाँ खड़ी हुई थी। कंस, देवकी की किसी सन्तान को जीवित नहीं रखना चाहता था, क्योंकि उससे उसे अपने जीवन का खतरा था। कहते हैं, कंस तो भविष्यवाणियों में विश्वास नहीं करता था किन्तु उसके छोटे भाई अतिमुक्तकुमार ने अपनी भाभी को चुनौती देकर कहा था कि तुम्हारे पति के अत्याचारों को नष्ट करने वाला इस संसार में आने की तैयारी में है और पत्नी की हठ पर कंस ने वासुदेव-देवकी को कारागार में बंद कर दिया था।

अतिमुक्तकुमार ने कंस की पत्नी को स्पष्ट कहा था कि तुम अपने अत्याचारी पति के आतंक के पीछे मदमस्त हो रही हो लेकिन ध्यान रखो कि देवकी रानी का सातवां पुत्र तुम्हारे अभिमान को चूर-चूर कर देगा। तुम आज मेरी हंसी उड़ा रही हो कि मैं घर-घर से रोटी की भिक्षा ले रहा हूँ। अरे मैं तो साधु हूँ पर जिस अत्याचारी ने अपने पिता तक को कैद में डाल रखा है और अनीति की धूम मचा रखी है, उसका अन्त निकट है, यही कहने के लिये मैं यहां आया हूँ। उन्होंने अपनी भाभी के लिए खेद प्रकट किया कि एक अच्छी पत्नी को सदा अपने पति के जीवन प्रणाली को श्रेष्ठ बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिये किन्तु उसने तो अपने पति की दुर्गति को अधिक बढ़ाया ही है।

अतिमुक्तकुमार की भविष्यवाणी से कंस की महारानी चौंक उठी और उसने कंस को सावधान कर दिया। कंस ने तब धूर्तता की। वह अपने बहनोई वासुदेव के पास गया और कहने लगा—आप पर मेरे कई उपकार हैं किन्तु मैं आपसे कुछ नहीं चाहता हूँ। आप से केवल एक वरदान चाहता हूँ। वासुदेव महाराज धार्मिक क्षत्रिय थे और सरल स्वभावी थे। उन्होंने सोचा कि कंस उनका साला है और वह कोई वरदान मांगता है तो उसे देने में क्या आपत्ति है। उनके हाँ कहने पर कंस ने मांग की कि मेरी बहिन देवकी का आपके साथ विवाह मैं स्वयं अपने आधिपत्य में यहां करना चाहता हूँ तथा यह भी चाहता हूँ कि आपकी होने वाली सभी सन्तानों का लालन-पालन भी मैं ही करूँ। इस तरह कंस ने कूटनीतिक चाल चली और भोले भाले वासुदेव उसका रहस्य नहीं समझे। उन्होंने सद्भावना में कह दिया कि उसकी इस इच्छा की पूर्ति में मेरी ओर से क्या बाधा हो सकती है? आप अपनी बहिन की सन्तानों का खुशी के साथ पालन-पोषण करें।

जैसे ही वासुदेव महाराज वचन बद्ध हो गये, उसने अपनी धूर्तता भरी चाल खेलनी शुरू कर दी। विवाह कराते ही उसने वासुदेव और देवकी को कारागार में डाल दिया और बाहर कड़ा पहरा बिठा दिया। जब देवकी की पहली सन्तान होने वाली थी तो वह बहुत दुःखी हुई। उसने पति को कहा कि आपने मेरे दुष्ट भाई को कैसा वचन दे दिया? मैं नहीं जानती कि वह अपनी पहली सन्तान के साथ कैसा दुर्व्यवहार करेगा? वासुदेव ने यही कहा कि जो वचन दे दिया गया है, उसे लौटाया तो नहीं जा सकता है इस कारण अपनी सभी सन्तानें उसे सुपुर्द करनी ही होंगी चाहे उनके साथ कैसा ही व्यवहार करे। देवकी रानी बहुत दुःखी हुई किन्तु पतिव्रता का कर्त्तव्य समझती थी कि पति के वचन की तो उसे भी रक्षा करनी ही होगी। कुछ समय बाद देवकी ने पहली सन्तान को जन्म दिया और उसने उसे देखे बिना ही कंस के अनुचर को सौंप दिया।

कंस ने जब उस सन्तान को अपने हाथ में लिया कि मैं उसका चेहरा तो देखूँ जो मेरी जीवन लीला समाप्त करने वाला है तो उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही जब उसने देखा कि देवकी की वह सन्तान तो मुर्दा लाश थी। वह यह सोच कर हंसने लगा कि लोग उसके प्रभाव को समझते नहीं हैं और ऐसी-वैसी भविष्यवाणी कर देते हैं। देवकी की पहली सन्तान ही मुर्दा हुई है तो आगे की सन्तानें भला मेरा क्या बिगाड़ सकेंगी?

समय बीतता गया और एक-एक करके देवकी को छः सन्तानें हो गईं।

सभी मुर्दा सन्तानों को कंस खत्म करता चला गया। जब देवकी रानी ने सातवीं बार गर्भ धारण किया तो वह अधिक सावधान हो गया। उसने सोचा कि मुझे सातवीं सन्तान से ही खतरा बताया गया है। तब कारागार पर पहरा भी उसने और कड़ा कर दिया। इधर उस गर्भ के कारण देवकी रानी के मन में अनेक शुभ संकल्प उठने लगे। वह कभी परमात्मा के दर्शन करने की इच्छा करती तो कभी उसकी साधु महाराज का सत्संग करने की अभिलाषा जागती। कभी-कभी उसकी ऐसी भावना भी उठती थी कि वह तलवार हाथ में लेकर इन दुष्टों का प्रतिकार करे जिन्होंने जनता को अपने अन्याय और अत्याचार से संत्रस्त बना रखा है। अन्याय के प्रतिकार के लिये उसका जोश उमड़ पड़ता था किन्तु वह कारागार में थी, इस कारण विवश थी। लेकिन सोचती थी कि जो भी है मेरी कोख में इस समय कोई-न-कोई शक्तिशाली पवित्र आत्मा है। उसके मन में यह सोचकर आशा बंधती थी कि उसकी होने वाली सन्तान के हाथों अवश्य ही इस समय फैले हुए अन्याय का सफल प्रतिकार हो सकेगा।

अन्याय के प्रतिकार के लिये

देवकी ने एक दिन अपने पति से निवेदन किया—महाराज, दुष्ट कंस ने आपको अपने वचन में कितनी धूर्तता से बांध दिया। अब तक मैंने भी आपके वचन की रक्षा में अपनी छः सन्तानें उस दुष्ट को सौंप दी। उसके अत्याचार तो दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। क्या हम अब भी सावचेत नहीं होंगे? अब कम-से-कम आने वाली अपनी सातवीं सन्तान की तो आप किसी भी प्रकार से रक्षा करने की तैयारी करें। वासुदेव ने विवशतापूर्वक उत्तर दिया—रानी देवकी, मेरे हाथों में हथकड़ियां और पांवों में बेड़ियां पड़ी हुई हैं तथा बाहर कड़ा पहरा लग रहा है। अब भला तुम्हीं बताओ कि मैं उसकी रक्षा का क्या उपाय कर सकूंगा? देवकी यही आग्रह कर सकी कि आप कुछ-न-कुछ पुरुषार्थ करने की तो सोचो ही। आखिर जो व्यक्ति सत्यनिष्ठा के साथ सत्य पुरुषार्थ करता है, उसे किसी-न-किसी रीति से सफलता भी अवश्य मिलती है।

फिर देवकी ने वासुदेव के कान में इतने धीमे से कहा कि कहीं कोई पहरेदार सुन न ले—देखिये, गोकुल में मेरी एक सहेली रहती है जिसका नाम यशोदा है। नन्द उसके पति हैं। मेरी उससे पहले बातचीत हुई है और उसने मुझे आश्वासन दे रखा है कि वह मेरी इस सन्तान को अपने पास रखकर पूरे वात्सल्य के साथ लालन-पालन करेगी। बस आपको इतना ही करना है कि जन्म होते ही अपनी इस सन्तान को आप सुरक्षित रूप से गोकुल में यशोदा के घर पहुँचा दें। वह भी

गर्भवती है और उसके भी मेरे साथ ही सन्तान पैदा होने की संभावना है अतः अपनी सन्तान उस के पास छोड़कर उसकी सन्तान को आप यहां ले आवें। मैंने यह प्रबन्ध एक शुभ उद्देश्य से किया है। इस सातवीं सन्तान के लिये भविष्यवाणी है कि इसके हाथों ही दुष्ट कंस के जीवन का अन्त होगा। अन्याय के प्रतिकार के लिये आपको यह पुरुषार्थ करना ही होगा।

फिर इसी अष्टमी के दिन कारागार में देवकी ने अपनी सातवीं सन्तान को जन्म दिया। उस समय, जब काले बरसाती बादलों की ओट में चन्द्रोदय हो रहा था, यह कर्मयोगी श्रीकृष्ण का शुभ जन्म था, जिनके हाथों उस समय फैले घोर अन्याय का सफल प्रतिकार होना था।

श्रीकृष्ण जन्म के समय बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही थी, बिजलियाँ कड़क रही थी और बादल गरज रहे थे। जिस समय श्रीकृष्ण कुक्षि के बाहर आते हैं, उनके दिव्य रूप को देखकर देवकी रानी फूली नहीं समायी। उसे विश्वास हो गया कि मेरा यह दिव्य पुत्र अवश्य ही मेरे दुष्ट भाई कंस के कुटिल अत्याचारों का खात्मा करेगा और अन्याय के सफल प्रतिकार से समग्र जनता के मन में नया जोश जगावेगा।

देवकी ने तब अपने पति को आवाज दी और कहा—नाथ, अपनी दिव्य सन्तान उत्पन्न हो गई है। इसके प्रभाव से आप के सभी पुरुषार्थ सफल होंगे। आप तो अपने हाथ-पांवों को हिलाइये, हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ झड़ जायेंगी और बाकी का सारा कार्य भी कुशलता पूर्वक सम्पन्न हो जायेगा। हकीकत में वासुदेव महाराज के हाथ-पांव मुक्त हो गये। उन्होंने एक टोकरे में श्रीकृष्ण को सुलाया और सिर पर उठाकर बाहर निकले। वह क्या देखते हैं कि सारे पहरेदार गहरी नींद में सोए हुए हैं। रात का घटाटोप अंधेरा था किन्तु वे अपने सधे हुए पैरों से चलते रहे। अपने आप नगर द्वार खुल गये और वे जब उमड़ती हुई यमुना नदी में आगे बढ़े तो आश्चर्य चकित रह गये कि वहां उनके लिये रास्ता बनता जा रहा था। वे कुशलतापूर्वक गोकुल में यशोदा के घर तक पहुँच गये। वहां यशोदा ने भी एक कन्या को जन्म दिया था। श्रीकृष्ण को उन्होंने यशोदा को सौंपा और यशोदा की कन्या को लेकर वापस कारागार को लौट आए। यह सब इस कर्मयोगी के तेज से हुआ और वास्तविकता से सोचें तो अन्याय के प्रतिकार के लिये हुआ। कैसा भी कुटिल अन्याय हो वह दीर्घ काल तक टिका नहीं रह सकता है। प्रकृति और पुरुष के संयुक्त पुरुषार्थ से उस अन्याय का अन्ततोगत्वा मूलोच्छेदन होता ही है।

अन्यायी कंस खुल कर हंसा ...

जब यशोदा की कन्या को लेकर वापस कारागार में पहुँचे तो सारी स्थिति यथावत् हो गई। पहरेदार भी जाग गये। उन्होंने देवकी रानी की आवाजें सुनी तो पूछताछ की और सन्तान होने का समाचार देने के लिये कंस के पास पहुँचे। कंस ने आकर देखा कि उसकी बहिन की सातवीं सन्तान एक कन्या हुई है तो वह खुलकर हंसा। हंसते-हंसते ही कहने लगा—मैंने भविष्यवक्ताओं जैसे मूर्ख नहीं देखे। कह रहे थे कि देवकी की सातवीं सन्तान मेरे जीवन को नष्ट कर देगी। खूब, यह छोकरी मुझ जैसे महाबली की तरफ खुली आंख देख भी सकेगी। चलो, यह सातवीं भी हो गई और अब भविष्यवाणी की सभी आंशकाएँ निर्मूल हैं। फिर वह अन्यायी कंस खुलकर हंसता रहा।

कंस ने तब निर्भय होकर उस लड़की को मारने से मना कर दिया। सिर्फ उसकी नाक पर एक निशान बना दिया ताकि बड़ी होने पर अपने मामा को याद करती रहे। लड़की को उसने वापस देवकी को सौंप दिया और पूरी निश्चिंतता के साथ हंसी-खुशी वहां से चला गया।

यह कथा आप सभी जानते हैं कि गोकुल में श्रीकृष्ण कैसे बड़े हुए, कैसे अपनी बाल लीलाओं से सारे गोकुलवासियों को मोहित करते रहे तथा गोकुल से मथुरा लौट कर उन्होंने किस तरह कंस का नाश किया व उसके अन्याय को समूल मिटा दिया।

अन्याय को सहना अन्याय है

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के प्रसंग से सबको क्या शिक्षा लेनी चाहिये? जन्माष्टमी के आयोजन का कोई-न-कोई उद्देश्य होना चाहिये वरना कोई भी निरुद्देश्यपूर्ण कार्य निरर्थक होता है। अतः उद्देश्य पर विचार करना आवश्यक है।

यह सही है कि जन्माष्टमी के प्रसंग से श्रीकृष्ण को स्मरण किया जाता है किन्तु स्वयं श्रीकृष्ण का स्मरण भी उद्देश्यपूर्ण होता है कि उनके जीवन के विभिन्न पुरुषार्थों की विवेचना की जाय, उनके आदर्शों व सिद्धान्तों पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तथा गीता में संदर्भित उनकी दार्शनिकता हृदयंगम की जाय। यों महाभारत में कृष्ण महाराज की सक्रियता आदि को देखते हुए उनके सम्पूर्ण जीवन का निष्कर्ष निकाला जाय तो एक वाक्य में यह होगा कि उन्होंने जनता को स्वयं का उदाहरण प्रस्तुत करके अन्याय का प्रतिकार किस पुरुषार्थ से करना चाहिये—यह सिखाया और बताया कि अन्याय को सहन करना भी अन्याय करने के बराबर है।

अन्याय क्यों नहीं सहना चाहिये? ध्यान रखने की बात है कि कोई भी राष्ट्र, समाज या संगठन हो, उसका श्रेष्ठ संचालन न्याय के आधार पर ही किया जा सकता है। न्याय वह होता है जो सबको उनके देय और प्राप्य का विश्वास दिलाता है तथा सबको सब की तुलना में प्रियकर लगता है। इसीलिये किसी भी सुव्यवस्था का न्यायपूर्ण होना आवश्यक है। किन्तु कई बार ऐसा होता है कि व्यवस्था का सूत्रकार उस राष्ट्र, समाज या संगठन की शक्ति व सत्ता का सार्वजनिक प्रयोग छोड़कर न्याय का गला घोट देता है तथा उस प्राप्त शक्ति और सत्ता का प्रयोग अपने निजी अथवा अपनों की स्वार्थ पूर्ति में करने लगता है। सत्ता का वैसा दुरुपयोग अन्याय कहलाता है। वे सारे काम अन्याय कहलाते हैं जो अनधिकारपूर्वक किये जायें। अधिकार प्रदत्त भी होते हैं तो नैतिक भी होते हैं लेकिन जो कार्य किसी भी समुचित कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं, उन सबका वर्गीकरण अन्याय के वर्ग में ही किया जायेगा। क्या न्याय है और क्या अन्याय, यह तत्कालीन राज्य एवं समाज के कानूनों व नियमों से भी जाना जाता है अथवा व्यवस्था की अन्य प्रणालियों से भी, किन्तु यह विषय सदैव प्रबुद्ध हृदय के अनुभव का होता है।

अब इस पर विचार करना चाहिए कि अन्याय को सहन करना इतना बुरा क्यों माना गया है कि अन्याय को सहन करने वाले तथा अन्याय को करने वाले का पाप बराबर है? जब कोई सिद्धान्त किसी व्यवस्था का मूल हो अथवा आत्म स्वरूप के प्रकाश का केन्द्र बिन्दु हो तो उसको सम्पूर्ण महत्त्व देना ही पड़ता है। जब कोई अन्याय करने पर उतारू होता है तो समझिये कि वह सुगठित व्यवस्था की नींव को ही नहीं हिला रहा है बल्कि स्वयं के आत्म स्वरूप को विकृत बनाकर सम्पूर्ण व्यवस्था के भविष्य के लिए खतरा खड़ा कर रहा है। क्या ऐसे खतरे को साधारण रूप में लिया जाना चाहिए?

जो अन्याय करता है, वह अन्याय को फैलाता है किन्तु जो अन्याय का प्रतिकार करता है और अन्याय के प्रतिकार के लिये सबको जगाता है, वह उस अन्याय को चारों तरफ से घेरता है और उसे समाप्त करता है। अन्याय को जो चुपचाप सह लेता है, वह अपने ही हितों को हानि नहीं पहुँचाता, बल्कि पूरे समाज के हितों की बलि देता है क्योंकि उसके द्वारा अन्याय को चुपचाप सह लेने से आगे लोगों की हिम्मत टूटती जायेगी और अन्यायी का हौसला बढ़ता जायेगा। इस प्रकार अन्याय के फैलाव में अन्याय को सहने वाले का उतना ही हाथ रहता है जितना अन्याय करने वाले का। इसी दृष्टि से अन्याय को सहना भी अन्याय माना गया है।

पुरुषार्थ जगेगा तो अन्याय मिटेगा

श्रीकृष्ण के जीवन से जो विभिन्न प्रेरणाएं मिलती हैं, उनमें अन्याय का प्रतिकार करने की प्रेरणा प्रमुख है। गीता में गुंफित उनके उपदेश यही प्रेरणा देते हैं कि हे अर्जुन, तू उठ खड़ा हो और अन्याय का सामना कर। उनकी इसी प्रेरणा का अंश यह है, कि अन्याय का प्रतिकार यों ही नहीं हो जायेगा। उसके लिये पर्याप्त पुरुषार्थ के प्रयोग की आवश्यकता होगी। इस कारण अपने पुरुषार्थ को भी जागृत किया जाना चाहिये तथा उसे सदा जागृत बनाये रखना चाहिये।

पुरुषार्थ जब जगेगा तो निश्चित मानिये कि अन्याय मिटेगा क्योंकि जागृत पुरुषार्थ का सामना कभी भी कोई अन्यायी विजयपूर्वक नहीं कर सकता है। पुरुषार्थ के सामने कैसा भी अन्याय हो, हार का ही मुंह देखता है। कोई भी कार्य या अवसर भाग्य के भरोसे नहीं छोड़ा जाना चाहिये। ऐसा करना कायरता का लक्षण है। पुरुषार्थी सदा साहसी होता है और सदा अपने आत्मबल पर भरोसा रखता है।

एक सच्चा पुरुषार्थी एक ओर तो अन्याय का सफल प्रतिकार करता है और दूसरी ओर सत्यवादिता को सर्वोपरि रखता है। इसका कारण है कि सत्य के बिना न्याय कभी टिकता नहीं है। आप किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार के अन्याय को मिटाने के इच्छुक हों तो यह बात हृदय में धारण कर लें कि उस कार्य में पुरुषार्थ की प्रबलता तथा सत्य के प्रति अटूट निष्ठा का सक्रिय रहना अनिवार्य है।

जहाँ न्याय है, वहाँ समता है

कहीं भी अन्याय के सफल प्रतिकार के बाद जब न्याय की पुनर्स्थापना हो जाती है तब यह भी मानिये कि वहाँ पर समता का भी प्रसार होने लगता है। श्रीकृष्ण ने भी गोकुल में रहते हुए समता भाव का प्रसार किया था। उसी समता भाव की अनुप्रेरणा से उन्होंने मथुरा पहुँचकर कंस के अन्याय, अनीति और अत्याचार का विरोध किया, जनता को जगाया एवं कठिन संघर्ष करके पुनः न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित करने में सफलता पाई। उन्होंने अर्जुन को भी न्याय के हित में संघर्ष करने की प्रेरणा दी किन्तु अपने दार्शनिक आदर्श को भी स्पष्ट किया कि संसार के सारे कर्तव्य अनासक्त भाव से पूरे किये जाने चाहिये। आसक्ति से जीवन बंधन में पड़ता है तो अनासक्ति उसे मुक्ति की ओर ले जाती है।

जहाँ अन्याय होता है, वहाँ पर भांति-भांति की विषमताएँ बढ़ती हैं जबकि इसके विपरीत जहाँ न्याय प्रतिष्ठित होता है, वहाँ समता की समरस धारा अवश्यमेव प्रवाहित होती है।

जहाँ समता है, वहाँ अवश्य ही सुख भी है और शान्ति भी है। श्रीकृष्ण ने जनता को अन्याय का प्रतिकार करना सिखाया। उसे न्याय, सत्य और समता का मार्ग दिखाया तो अपनी सम्पूर्ण वत्सलता के साथ सुख और शान्ति का वरदान भी दिया। तब मथुरा के राजा अग्रसेन ने श्रीकृष्ण को वहाँ का राज्य समर्पित कर दिया किन्तु साम्य योगी कृष्ण ने उसके प्रति अपनी कोई रुचि नहीं दिखाई। श्रीकृष्ण के जीवन से सादगी का सन्देश भी मिलता है कि वे रत्न जड़ित मुकुट के स्थान पर मात्र मोर पंख का मुकुट पहनते थे और पीत वस्त्र धारण करते थे। उनकी इस सादगी का आशय भी समता में ही सन्निहित था।

अतः श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का आयोजन सोद्देश्य और सार्थक होना चाहिये। इस दिन अन्याय के प्रतिकार, न्याय की प्रतिष्ठा, सत्यानुगामिता, साम्य योग या समता के प्रतिपालन तथा सच्चे सुख व शान्ति के स्वरूप पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिये। उसमें पुरुषार्थ को प्रमुख स्थान देकर इन सदगुणों को जीवन के विचार एवं व्यवहार पक्ष में अधिकतम रूप से अपनाना चाहिये।

दिनांक 28.08.1986

(जलगांव)

17

भक्ति भगवान् को नहीं भक्त को चाहिये

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे...

परमात्मा की भक्ति का दावा करने वाले भक्त जनों की इस दुनिया में शायद कमी नहीं है। ये भक्त अपनी विभिन्न धारणाओं के अनुसार परमात्मा की सेवा-भक्ति करते हैं। वे अपनी आस्था के अनुरूप विविध विधियों से इस भक्ति की आराधना करते हैं। तब वे मन में यह भी सोचते हैं कि हम प्रभु की जो इस प्रकार भक्ति कर रहे हैं, उसके बाद जीवन में और कुछ करने को नहीं रह गया है।

ऐसे भक्त, ज्ञानीजन की दृष्टि में सच्चे भक्त नहीं होते हैं क्योंकि वे परमात्मा के वास्तविक स्वरूप एवं उसकी यथार्थ भक्ति के ज्ञान से वंचित होते हैं। इसी कारण वे यह भी नहीं जानते कि उनकी अपनी आत्मा का स्वरूप क्या है तथा परमात्मा की भक्ति से वे अपना स्वरूप किस प्रकार संशोधित एवं स्वस्थ बना सकते हैं?

सच्ची भक्ति का मार्ग कितना दुरूह?

परमात्मा कौन है, कहां है तथा परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग कैसा है? यह सब जाने और समझे बिना मात्र नाम से जो भक्ति की जाती है, वह आत्मोत्थानकारी एवं श्रेयकारी कैसे हो सकती है? पहले यह समझा जाय कि जो भी शुभ अनुष्ठान किये जाते हैं, उन सबका उद्देश्य अपने स्वयं के आत्मस्वरूप को केन्द्रस्थ करना होता है। अपनी आत्मा को अपनी सारी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के केन्द्र में रखकर जब अपनी सब धारणाओं और आस्थाओं की समीक्षा की जाती है, तभी उनकी यथार्थता का ज्ञान होता है। क्योंकि उनकी यथार्थता की पहचान ही यह होती है कि उनके प्रभाव से आत्मस्वरूप

को निर्मलतर बनाने में कितनी अधिक सहायता मिलती है। यही कसौटी भक्ति की विद्या पर भी लागू होती है कि जिस किसी रूप में परमात्मा की भक्ति की जा रही है, क्या वह आत्मा को सच्ची उन्नति की दिशा में अनुप्रेरित कर रही है और अग्रगामी बना रही है।

यह सभी जानते हैं कि संसारी आत्माएँ जटिल कर्म बंधनों से जकड़ी हुई हैं। इसी कारण वे जन्म-मरण के चक्र में निरन्तर परिभ्रमण करती हुई अपार दुःखों का अनुभव कर रही हैं। उसे बंधन मुक्त करने का पुरुषार्थ इसी दृष्टि से बहुत कठिन है और परमात्मा की भक्ति को आत्म मुक्ति की साधिका बनाना है तो समझना होगा कि भक्ति का मार्ग भी उतना ही दुरूह है।

परमात्मा की भक्ति करने तथा परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग वास्तव में इससे भी अधिक दुरूह होता है जितना कि खांडे की धार पर नंगे पैरों से चलना। स्वयं तीर्थंकर भगवान् भी अति कठिन साधना को साधकर ही चौदहवें गुणस्थान तक उच्चस्थ गति करते हैं जो राग-द्वेष, क्रोध, मान, मोह, माया, लोभ आदि आत्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अपने आत्म स्वरूप को पवित्रतम बनाते हैं। उस दिव्य उपलब्धि के बाद वे आत्मानुभव के आधार पर जो कल्याणकारी उपदेश देते हैं, उन्हें भव्य आत्माएँ निश्चिंता भाव से अपने जीवन में आचरित करके अपने स्वरूप को भी परमात्मा के तुल्य बना सकती हैं।

जब तक भक्तगण इस सारे सिद्धान्त, आदर्श और लक्ष्य को भली-भांति नहीं समझते हैं, तब तक वे न तो भक्ति की सार्थकता को समझ पाते हैं, न ही उसके आन्तरिक रहस्यों को। इस ज्ञान के अभाव में भक्ति सामान्य प्रक्रिया समझकर अतिसरल मान ली जाती है जिससे न सिर्फ भक्ति के अतुलनीय महत्त्व को वे नासमझ भक्त घटाते हैं बल्कि भक्ति से प्राप्त किये जा सकने वाले आत्मार्थी लाभों से भी वे वंचित रह जाते हैं।

इस कारण परमात्मा की भक्ति विधा को दुरूह मानते हुए उसे आत्मिक-अनुभूति की गहराइयों के साथ समझने की आवश्यकता होती है।

भक्ति भगवान् को नहीं, भक्त को चाहिये

तीर्थंकर, वीतराग या सिद्ध परमात्मा केवलज्ञानी और केवलदर्शी होते हैं तथा वे अपनी ही आत्म ज्योति में लवलीन रहते हैं। वे इस सांसारिकता के बारे में या कि अपनी भक्ति करने वाले भक्तों के विषय में कभी कुछ सोचते नहीं हैं। उन्हें कभी अपेक्षा भी नहीं रहती कि कोई उनकी भक्ति करे। वे यह भी अंकन नहीं करते कि कौन उनकी भक्ति कर रहे हैं या कौन उनकी भक्ति नहीं

कर रहे हैं अथवा कौन उनकी निंदा या विकथा कर रहे हैं क्योंकि इन सबसे उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता है। तब वैसी अवस्था में यह मानना या कहना कितना अनुचित कहलायेगा कि भगवान् भक्ति से प्रसन्न होते हैं तथा समय आने पर अपने भक्तों की सहायता करते हैं? वस्तुतः भक्ति की भगवान् को न अपेक्षा होती है, न आवश्यकता। वे किसी भी प्रकार की सांसारिकता या कि संसार की प्रवृत्तियों से पूर्णतः अलग हो जाते हैं। तब वे इन सब के बारे में सोचते तक नहीं हैं। फिर भक्तों की भक्ति का परमात्मा के साथ किसी भी रूप में सम्बन्ध जोड़ना समुचित नहीं है।

हाँ, भक्ति परमात्मा को नहीं, भक्त को अवश्य चाहिये और वह भी उसकी अपनी ही आत्मा के कल्याण के लिये और उसके माध्यम से अन्य भव्य आत्माओं के कल्याण के लिये। सामान्य भक्त का कर्तव्य है कि वह परमात्मा की भक्ति के इस रहस्य को अवश्य हृदयंगम करे।

किन्तु आज सामान्य भक्त परमात्मा की भक्ति की किसी भी विधा का अनुसरण करते हुए क्या सोचता है? यही न, कि वह भगवान् की भक्ति करेगा तो उस भक्ति से भगवान् उस पर प्रसन्न और तुष्टमान हो जायेंगे। फिर क्या है, वे उसके सारे मनोरथों को चुटकी बजाते ही पूरे कर देंगे! तब उसके जीवन में सुखों की और केवल सुखों की वर्षा होगी। इसके विपरीत वे यह भी सोचते हैं कि यदि वे भगवान् की भक्ति नहीं करेंगे तो भगवान् उनसे अप्रसन्न और रुष्ट हो जायेंगे, तब उनके कोप को झेलना अतीव कठिन बन जायेगा। आस्था की इतनी अंधी गलियाँ भी बनाई हुई हैं कि समय पर वर्षा नहीं होती है, कोई असाध्य रोग फैलता है अथवा किसी भी प्रकार का संकट उपस्थित होता है तो यही माना जाता है कि यह सब भगवान् के कोप के कारण हो रहा है। तब भगवान् को प्रसन्न करने के भक्ति के नाम पर भांति-भांति के हिंसाकारी और संहारकारी अनुष्ठान तक किये जाते हैं।

किन्तु ऐसा सोचना और मानना सम्यक् ज्ञान की दृष्टि से कतई योग्य नहीं है। भगवान् भक्ति, पूजा, अर्चना आदि से न तो प्रसन्न होते हैं और न ही निन्दा, तिरस्कार, अपमान आदि से अप्रसन्न होते हैं। वे तो अनन्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में रमण करते हुए निरपेक्ष भाव से सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति तटस्थ रहते हैं। वे अपने ज्ञान में यह देखते रहते हैं कि ऐसे अज्ञानी भक्त अपने उच्चतम तत्त्व आत्म तत्त्व की अवहेलना करते हुए स्वयं के विकास को अवरुद्ध ही नहीं कर रहे हैं बल्कि पतन की ओर आगे बढ़ रहे हैं। वे परम आत्माएँ इन पर मध्यस्थ भाव रखती हैं किन्तु किसी भी प्रकार से राग या द्वेष नहीं लाती हैं।

इस विश्लेषण से यह स्थिति स्पष्ट हो जानी चाहिये कि परमात्मा का, उनके नाम पर की जाने वाली किसी भी प्रकार की भक्ति से कोई लगाव या सम्बन्ध नहीं होता है। इस कारण भक्त को यह समझकर ही परमात्मा की भक्ति करनी चाहिये तथा भक्ति की वैसी विधा अपनानी चाहिये जिसके प्रभाव से उसके आत्म स्वरूप में निर्मलता और पवित्रता का अंश अभिवृद्ध बन सके। परमात्मा की भक्ति का अनुष्ठान परमात्मा की प्रसन्नता या अप्रसन्नता का माध्यम नहीं, बल्कि उसके अपने ही आत्म विकास का सशक्त साधन होता है, बशर्ते कि वह विवेक पूर्वक एवं भावपूर्वक इस साधन का आत्म हित में सदुपयोग करे।

भक्ति से प्रसन्न करें अपनी आत्मा को

यह बात अपने दिल में जमा लीजिये कि जो परमात्मा की भक्ति करनी है, उसका प्रमुख और एक मात्र उद्देश्य यह होता है कि उस भक्ति के माध्यम से अपनी स्वयं की आत्मा को प्रसन्न किया जाये। इतना प्रसन्न कि वह यथोचित विकास साधकर परमात्म-स्वरूप के निकट पहुँचती जाये और एक दिन सम्पूर्ण विकास को प्राप्त करके स्वयं भी परमात्मा बन जाये।

जो आत्मा इस रूप में परमात्मा की भक्ति करती है, वही सच्चा सुख और आन्तरिक शान्ति का रसास्वादन कर सकती है। ऐसी भक्त आत्मा को भी न तो अपनी सराहना-प्रशंसा से प्रसन्न होना चाहिये और न ही अपनी निन्दा-आलोचना से अप्रसन्न। परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने के मार्ग पर आगे बढ़ने का यही मार्ग है कि उन्नति गामी आत्मा अधिक से अधिक तटस्थ भाव को ग्रहण करती जावे। इस मार्ग से अपनी आन्तरिकता में समभाव को विकसित किया जा सकता है। भगवान् का यह वचन है कि राग-द्वेष, मोह-माया आदि सांसारिक विकारों से अपनी आत्मा को इतना ऊपर उठाओ कि वह विषम परिस्थितियों से सफलतापूर्वक संघर्ष कर सके। ऐसे संघर्ष की स्फूर्ति को ही भगवान् की भक्ति की सच्ची विधा मानिये।

आप जानते हैं कि आपके घरों में जब रसोई करनी होती है तब पहले नीचे आग जलाकर तवे को गरम किया जाता है। तवा गरम होने पर रोटियाँ सेंक ली जाती हैं और काम हो जाने पर तवे को ठंडा भी कर दिया जाता है। लेकिन मनुष्य के मन रूपी तवे के नीचे ऊँची-नीची भावनाओं तथा राग-द्वेष आदि विकारों की आग निरन्तर जलाई जाती रहती है जिससे मन का तवा बराबर गरम ही रहता है। उसे ठंडा तक नहीं होने दिया जाता है, विश्राम देने की

बात तो दूर रही। फिर सोचिये कि ऐसे गरम मन को ठंडा करने का क्या उपाय हो सकता है जिससे कि वह गंभीर सोच विचार के साथ शीतलतापूर्वक इन्द्रियों को जीतने का या कि अन्य प्रकार से शान्ति लाभ लेने का अपना संकल्प निर्धारित कर सके। मन की हमेशा फैली रहने वाली गर्मी में अशान्त व्यक्ति कभी अपने परिवार जन या कभी अन्य लोगों के व्यवहार से क्षुब्ध होकर क्रोध से उमड़ता रहता है तो कभी मान, माया, लोभ, काम आदि के कुत्सित विकारों से ग्रस्त होकर मदोन्मत्तता में इतराता रहता है, जिससे सदा उसके कलुषित विचारों की भट्टी जलती रहती है और मन का तवा बराबर गर्म बना रहता है। इस कारण विचार शक्ति भी शून्य सी हो जाती है।

ध्यान में लीजिये कि ऐसी अशान्त और अप्रसन्न आत्मा को ही शान्त और प्रसन्न बनाने की समस्या प्रमुख है। भटकते मन को सही दिशा में स्थिर करने की अनिवार्यता है। इस समस्या का सही समाधान है परमात्मा की सच्ची भक्ति और आत्मा की सच्ची विरक्ति।

परमात्म स्वरूप पर आत्मिक चिन्तन

परमात्मा की सच्ची भक्ति करने के लिये परमात्मा के स्वरूप पर आत्मिक चिन्तन करना होगा कि परमात्मा कौन है, कहां है और उसके परम स्वरूप का यह आत्मा भी किस विधि से वरण कर सकती है?

आत्मा का ही चरम विकसित रूप परमात्मा का होता है। जो आत्मा अपने कठिन सत्पुरुषार्थ की सहायता से परम पद को अनाप्त कर लेती है, वही परमात्मा बन जाती है, तो एक प्रकार से क्या यह नहीं माना जा सकता है कि अपनी आत्मा भी परमात्मा है?

आत्म-समानता के सिद्धान्त से सभी आत्माओं का मूल स्वरूप एक समान होता है चाहे वह संसारी आत्मा हो या सिद्ध आत्मा। अन्तर यही है कि संसारी आत्मा आठ प्रकार के कर्मों से बद्ध होती है तथा सिद्ध आत्मा उनसे सर्वथा मुक्त। बद्ध आत्मा के सकल पुरुषार्थ का वास्तविक उद्देश्य यही होना चाहिये कि वह भी मुक्त आत्मा बन जाये। जो मुक्त आत्मा है, वही परमात्मा है।

इस दृष्टि से परमात्मा की भक्ति का सीधा सादा अर्थ और प्रयोजन यह है कि परमात्मा के स्वरूप को समझें, अपनी आत्मा का अन्तरावलोकन करें तथा अपने पुरुषार्थ को जगावें कि परमात्मा और आत्मा के अन्तर को कैसे शीघ्रातिशीघ्र दूर करें। ऐसा आत्मिक चिन्तन ही परमात्मा की भक्ति का मुख्य अंग होना चाहिये।

सच पूछें तो जीवन विकास की दृष्टि से आत्म चिंतन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। जब मनुष्य अपने भीतर उतरकर आत्माभिमुखी बनता है तभी विविध धार्मिक क्रियाएँ उसके लिये लाभदायक बनती हैं। सामायिक करना, पौषध पचकखना या तपस्या-व्रत लेना, इन क्रियाओं को यदि बाह्य दृष्टि से ही कर लिया तो वह सन्तोष का विषय नहीं होना चाहिये। यह सब आन्तरिक विधि के साथ करना चाहिये। सबके आचरण में आत्म चिन्तन की प्रमुखता होनी चाहिये। अन्दर-बाहर से एकीभूत होकर जब धार्मिक क्रियाओं की आराधना की जाती है तो समझिये कि वही परमात्मा की सच्ची भक्ति है।

चाहे कोई भी धार्मिक क्रिया है, यदि उसे भावपूर्वक नहीं करते हैं तो उसका करना सार्थक नहीं माना जायेगा। उस क्रिया में अन्तरात्मा रंग जानी चाहिये तभी उस क्रिया की उच्चता का आभास हो सकता है। प्रतिक्रमण करने का अर्थ सिर्फ उसकी पाटियाँ बोलना ही नहीं है, उसे विधि पूर्वक करके उसके साथ मन का योग जुड़ना चाहिये। आत्म चिन्तन के साथ अपने कार्य-कलापों की सच्ची आलोचना होनी चाहिये कि अशुभ वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की तरफ झुकाव हुआ तो क्यों हुआ और भविष्य में वैसा पुनः नहीं होगा। प्रतिक्रमण को प्रायश्चित्त एवं प्रतिज्ञा के साथ किया हुआ आत्म चिन्तन ही मानिये। जब कोई इस रूप में किसी भी धार्मिक क्रिया का अनुसरण करता है तो वह यथार्थ में परमात्मा की भक्ति ही है क्योंकि वैसे आचरण से स्वयं की आत्मा प्रसन्न होती है तथा शान्ति का अनुभव लेती है।

आत्म चिन्तन की सार्थकता इसी में है कि इस तपते हुए मन के तवे पर शुभ भाव रूपी शीतल जल के छँटि डालते रहें और देखते रहें कि वह तवा कितने अंशों में ठंडा हुआ है क्योंकि उसके लिये नीचे भट्ठी की दशा को भी देखना पड़ेगा। विकारों की उस भट्ठी में से जलती हुई काम-क्रोध की लकड़ियाँ भी बाहर निकालनी पड़ेंगी। इस प्रकार दोनों ओर की तपन में कमी करने से ही मन को अधिकाधिक विवेकशील एवं एकाग्र बनाया जा सकेगा। आत्म चिन्तन युक्त परमात्मा की भक्ति से ही मन को बन्ध की जगह मोक्ष का कारण बना सकेंगे।

धर्म स्थानक मन को बनाइये

धार्मिक क्रियाओं में अपनी अभिरुचि को प्रदर्शित करने के लिये मनुष्य धर्म स्थान को सजा कर रखता है। लेकिन वास्तविक रूप से तो मन को ही धर्म स्थानक बनाइये कि प्रत्येक धार्मिक क्रिया का आराधन सम्पूर्ण मनोयोग के

साथ किया जावे। बाकी इन बाहरी धर्म स्थानकों में भी अन्य प्रकार की सजावट आवश्यक नहीं है। इनमें तो धार्मिक क्रियाओं से सम्बन्धित उपकरण—बैठके, पूंजनी, रजोहरण, माला वगैरह यथास्थान रखे हुए हों तथा उनका विधिपूर्वक उपयोग किया जाता हो।

यों साधु के लिये तो सभी क्रियाएँ विधिपूर्वक करना अनिवार्य है परन्तु श्रावकों को भी यथासाध्य बताई गई विधि का अनुसरण करना चाहिये। जिसके मन में परमात्मा की भक्ति करने की तीव्र अभिलाषा होती है, वही मन को साध कर विधिपूर्वक धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने का ख्याल रखता है। परमात्मा की इस विधि से भक्ति करने वाला सच्चा आत्मार्थी भक्त यही विचार करता है कि यह संसार नश्वर है जिसमें प्राप्त धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि भी मृत्यु के समय साथ चलने वाला नहीं है अतः पदार्थ मोह से दूर हटकर त्याग और संयम की आराधना करनी चाहिये। वह सोचता है कि यह जो दुर्लभ मानव जीवन प्राप्त हुआ है, इसका इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही सदुपयोग करना चाहिये। इस प्रकार विचारपूर्वक जो विकारों को नष्ट करता है तथा धार्मिक क्रियाओं को भावपूर्वक अपनाता है, उसके मन के लिये यह कहा जा सकता है कि वह उसे सच्चे अर्थों में धर्म स्थानक बना रहा है।

परमात्म-भक्त मनस्वी कैसा होता है ?

एक परिवार में चार-पांच सदस्य सुखपूर्वक अपनी गृहस्थी चलाते हुए आनन्द से रहते थे। उन सब में एक भाई ऐसा परमात्म-भक्त, चिन्तनशील तथा विवेकवान था कि वह कोई मांगे या नहीं और माने या नहीं, सभी को सत्परामर्श देता, सही मार्ग दिखाता तथा किसी भी परिस्थिति में किसी पर क्रोध नहीं करता। वह यही विचार करता कि कोई दूसरा मेरी बात मान लेगा तो मुझे आनन्द होगा और नहीं मानेगा तो मैं बुरा नहीं मानूँगा। उसकी मान्यता थी कि शुभ और श्रेष्ठ भावना के साथ तथा दूसरे की भलाई के लिये ही कोई कार्य करना चाहिये। कभी-कभी वैसे काम का तुरन्त में यदि विपरीत परिणाम भी दिखाई देता है तो वह अस्थायी स्थिति होगी। अन्ततोगत्वा अच्छे का नतीजा अच्छा ही निकलेगा। अपनी वृत्तियों-प्रवृत्तियों के प्रति सदा सन्तुष्ट रहने वाला गृहस्थ अवस्था में रहता हुआ भी कोई व्यक्ति अपनी आत्मा को प्रसन्न रख सकता है जो एक परमात्म भक्त मनस्वी का कार्य होता है।

परिवार का वह सदस्य प्रतिदिन यथा समय आत्म चिन्तन करता था तथा परमात्मा की भक्ति में तल्लीन रहता था। परिवार, समाज तथा राष्ट्र

के कर्त्तव्यों के प्रति भी वह सजग रहता था किन्तु इन सबमें उसकी निर्लिप्तता रहती थी। किसी भी प्रवृत्ति को वह अपनी स्वार्थपूर्ति का साधन नहीं बनाता था। कोई उसकी प्रशंसा करता तो वह बात बदल देता और कोई उसकी निंदा करता तो शान्तिपूर्वक सुन लेता। उसकी नगर में चारों ओर ख्याति फैली हुई थी।

एक बार राज सभा जुड़ी हुई थी। उसमें राजा ने कहा—क्या मेरे नगर में ऐसा कोई व्यक्ति है जो किसी भी परिस्थिति में प्रसन्न रहता हो तथा जिसका प्रत्येक कार्य किसी-न-किसी की भलाई के लिये किया जाता हो? ऐसे व्यक्ति को मुझे अपना दीवान बनाना है। तब सभी ने परिवार के उस सदस्य का उल्लेख किया। सब की एक स्वर से व्यक्त की गई सहमति को देखते हुए राजा ने उस सदस्य को अपना दीवान नियुक्त कर दिया।

एक बार राजा गण्यमान्य व्यक्तियों के साथ हल्की-फुल्की बातें कर रहा था। वह नव नियुक्त दीवान भी वहां मौजूद था। उसने तब नम्रता से सुझाव दिया—राजन्, आप तो अतीव विवेकशील पुरुष हैं। इन हल्की-फुल्की बातों की बजाय आपको ऐसे आदर्शों और सिद्धान्तों की बातें करनी चाहिये जो आत्मा को परमात्मा बनने की राह दिखाती हों। राजा कुछ कुपित-सा हुआ पर वह बोला—दीवानजी, मैं ऐसी बातों का प्रत्यक्ष फल जानना चाहता हूँ। दीवान ने समझाया—इनमें कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनकी विधिपूर्वक साधना के बाद ही उनका फल प्रत्यक्ष हो सकता है तो किन्हीं बातों का फल स्वयं के आन्तरिक अनुभव में ही पाया जा सकता है, उसे बाहर बता नहीं सकते हैं। राजा ने पूछा—तुम ऐसा कौन-सा काम करते हो? उसने कहा—मैं प्रतिदिन परमात्मा की भक्ति करता हूँ तथा आत्म चिन्तन के साथ अपनी आन्तरिकता का शोधन और रूपान्तरण करता हूँ। उससे मेरी कर्त्तव्य निष्ठा सदा जागृत रहती है तथा हर वक्त मैं प्रसन्न रहता हूँ। राजा ने यही कहा—मैं आपकी बातों की समय पर जांच करूंगा।

एक दिन राजा और दीवान साथ-साथ घूमने निकले और एक किसान के खेत पर पहुँच गये। खेत में ककड़ियों की फसल बहुत अच्छी आई हुई थी। राजा का मन ककड़ी खाने का हो गया। उसने दीवान को दो-एक ककड़ी लाने को कहा। दीवान ले आया तो जिद करके खुद छीलने लगा। उसे छीलने का अभ्यास तो था नहीं सो ककड़ी छीलते-छीलते अपनी अंगुली काट बैठा। राजा ने कहा—मैं शुभ भावना से यह कार्य कर रहा था फिर भी मेरी अंगुली कट गई। इस पर सदा प्रसन्न रहने वाले दीवान ने उत्तर दिया—जो हुआ है वह अच्छे के

लिये ही हुआ है। राजा को इस उत्तर से क्रोध चढ़ आया और उसने मन-ही-मन दीवान को सबक सिखाने का निश्चय कर लिया।

राजा ने कहा—अब पानी लेकर तो आओ। दीवान कुएं पर गया और पानी खींचने लगा। रस्सी थोड़ी छोटी पड़ रही थी सो वह कुएं के भीतर झुका, तभी राजा ने लपक कर उसे कुएं में धकेल दिया और कहा—जो होता है वह अच्छे के लिये ही होता है। यह कहकर राजा अपने घोड़े पर बैठकर आगे बढ़ गया। घोड़ा दौड़ते-दौड़ते एक विकट वन में पहुँच गया। वहां जंगली जातियों के लोगों ने उसे पकड़ लिया। उनको एक सांगोपांग, भव्य पुरुष की आवश्यकता थी जिसे वे अपनी देवी के सामने बलि चढ़ा सकें। राजा को वे रस्सियों से बांध कर देवी के मन्दिर में ले गये। वहां बलि पर चढ़ाने के पहले जब उसकी जांच की गई तो वह बलि के योग्य नहीं माना गया क्योंकि वह सांगोपांग नहीं था। उसकी एक अंगुली कटी हुई थी। इस पर उसे छोड़ दिया गया। तब उसे अपने दीवान के कथन की सचाई महसूस हुई कि जो कुछ होता है, अच्छे के लिये ही होता है।

सच बात तो यह है कि ऐसा मानने में मन की सदाबहार प्रसन्नता पर कहीं भी आघात नहीं होता है। इस कारण एक परमात्म-भक्त मनस्वी की ही ऐसी मान्यता अटल रहती है और वह सदा स्वयं प्रसन्न रहता है तथा सबको प्रसन्न रखता है।

भक्ति परमात्मा की, शक्ति अपनी

परमात्मा की, की जाने वाली भक्ति कितनी सच्ची और सफल है, इसका लेखा-जोखा या कि इसकी परीक्षा इसी तथ्य पर की जा सकती है कि उससे अपनी आत्मा को सद्बिचार एवं सदाचरण के क्षेत्र में गति करने की कितनी शक्ति प्राप्त हो सकी है। जितनी भक्ति गहन होगी, शक्ति उतनी ही प्रबल बनेगी।

आत्म शक्ति की महत्ता को आप अवश्य ध्यान में ले लें। पूर्ण सुरक्षित दुर्ग और महल हों, चतुरंगिणी सेना का पृष्ठबल हो तथा नानाविध अस्त्र-शस्त्रों का अपने पास अम्बार लगा हो, फिर भी यदि आत्म शक्ति का अभाव हो तो वैसा पुरुष कभी भी अपने को सुरक्षित महसूस नहीं कर सकता है। चाहे बाहर का भय अवरुद्ध हो गया हो तब भी वह प्रति क्षण भीतर के भय से कम्पायमान होता रहेगा और एक पल के लिये भी सुख और शान्ति का अनुभव नहीं कर सकेगा। दूसरी ओर, जिसके पास पर्याप्त आत्म शक्ति का सद्भाव होता है—वह चाहे

अकेला ही विकट संकटों के बीच फंसा हो तब भी न भयभीत होता है, न किसी कीमत पर अपनी हार स्वीकार करता है।

ऐसा क्यों होता है? यह आत्म शक्ति का प्रभाव होता है जो आत्मशोधन, परीक्षण एवं सतत निरीक्षण से प्राप्त होता है। जो जितना आत्माभिमुखी बनता है उतना ही उसका आत्मविश्वास सबल होता जाता है। वास्तव में मनुष्य की किसी भी संघर्ष में सफलता बाहर के साधनों पर आधारित नहीं होती है। उसका मूलाधार केवल आत्मविश्वास और आत्मबल पर टिका हुआ होता है। आत्मविश्वास एवं आत्मबल का संयुक्त रूप ही आत्म शक्ति में प्रकट होता है।

यह आत्म शक्ति उपजती है, पनपती है तथा फैलती है परमात्मा की भावपूर्ण भक्ति से। जितना परमात्म-स्वरूप को देखते हैं, उतना ही अपने आत्म स्वरूप को देखते हैं और उतना ही भविष्य के मुक्ति मार्ग को देखते हैं। यही आत्म शक्ति की प्राप्ति का स्रोत होता है।

दिनांक 29.08.1986

(जलगांव)

18

परम गहन सेवा

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी...

जिन भगवान् की चरण सेवा के लिये भव्य जन लालायित रहते हैं। जिन भगवान् की वास्तविक सेवा का स्वरूप यदि जीवन में उतर आवे तो समझिये कि जीवन का बेड़ा पार हो जायेगा। जो इस अन्तरहस्य को समझ जाते हैं, वे जिन भगवान् के चरणों में उसी अभिलाषा से पहुँचते हैं। यह समझने की मूल और मुख्य बात है कि सेवा का रहस्य परम गहन होता है। सेवा की प्रक्रिया को आज का मानव अति सरल मानकर चलता है, लेकिन वह जिस रूप में सेवा करता है या कि सेवा करना चाहता है, वह सेवा का यथार्थ स्वरूप नहीं है।

सेवा धर्म परम गहन होता है

नीति में कहा गया है कि (सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः) सेवा धर्म परम गहन होता है और इतना गहन कि कई बार बड़े-बड़े योगियों द्वारा भी अच्छी तरह समझा और जाना नहीं जा सकता है। ऐसे अगम तत्त्व को सरल मानकर नहीं चल सकते हैं। इस कारण सेवा धर्म के वास्तविक स्वरूप का पहले ज्ञान होना चाहिये एवं तदनन्तर सम्पूर्ण मनोयोग, वचनयोग एवं कामयोग के साथ सेवा कार्य में प्रवृत्ति की जानी चाहिये। इसके साथ ही सेवा विकार-रहित एवं विषमता रहित भी होनी चाहिये।

व्यवहार में सेवा का रूप कुछ इस प्रकार माना जाता है कि अमुक व्यक्ति अपने अग्रजों के पांव दबावे, रुग्णावस्था में औषधि लावे व अन्य सहायता पहुँचावे अथवा दुःखी अवस्था में सामग्री आदि से सहयोग करे। बाह्य सेवा के इसी प्रकार के कई रूप हो सकते हैं। सांसारिक व्यवहार में इस प्रकार से सेवा के कार्य करके ही कई लोग सेवा की इतिश्री मान लेते हैं किन्तु सही अर्थों में ऐसा नहीं है। यह तो महान् सेवा कार्यों का मात्र शुभारंभ माना जाना चाहिये कि किसी की प्रवृत्ति सेवा की दिशा में कार्यरत हो रही है।

अन्य दृष्टि से बाह्य सेवा कार्यों को यह भी श्रेय दे सकते हैं कि उनके माध्यम से सेवा करने वाले व्यक्ति की सेवा वृत्ति का परिष्कार और विकास होता जाता है ताकि समय आने पर वह वृत्ति समुज्ज्वल बनकर आध्यात्मिक गहनता तक पहुँच सके।

श्रावक लोग और भक्त जन हमेशा कहा करते हैं कि हम महाराज साहब की सेवा कर रहे हैं, उनकी सेवा में जा रहे हैं लेकिन वे महाराज की कौन-सी सेवा कर रहे हैं? आप तो जानते हैं कि सन्तजन अपनी साधु वृत्ति से संयम का संवहन करते हुए चलते हैं और गृहस्थों की सेवा स्वीकार नहीं करते हैं जो शरीर सेवा से सम्बन्धित हो। श्रावक सन्तों के पास पहुँचते हैं तो वे उनके पास बैठकर शास्त्रों में उल्लिखित वीतराग भगवान् की वाणी का श्रवण करते हैं, लेकिन वे श्रावक उसका अपने जीवन में किस प्रकार से उपयोग करते हैं, यह उनके ही सोचने की बात है। वर्तमान स्थिति में श्रावक जन किस प्रकार से अपनी आत्मा का कल्याण साध रहे हैं—इसका विज्ञान भी अधिकांश श्रावकों को शायद नहीं होता है। इसका रहस्य सन्तों के पास जाकर ही जाना जा सकता है। वीतराग देव का गुणदर्शन वे सन्तों के प्रवचनों से ही सुनते व समझते हैं। सन्तों के पास से श्रावक जन जो मार्गदर्शन लेते हैं, उसी को सन्तों की सेवा का नाम दिया जाता है। लेकिन उनसे पूछें कि आपने सन्तों की सेवा कैसे की तो शायद वे सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पायेंगे क्योंकि पांव दबाना, दवा-पानी लाना आदि प्रकार की सेवा तो वे सन्तों की नहीं करते। वे सन्तों की श्रद्धा के साथ मंगलवाणी सुनते हैं, उसे ही उन्हें सन्तों की सेवा माननी चाहिये।

इसे श्रावकों का सेवा धर्म मानें, तब भी उसकी परम गहनता कम नहीं होती है, क्योंकि उस मंगलवाणी को अपने जीवन के आचरण में निष्ठापूर्वक कार्यान्वित करना भी सरल नहीं होता है।

सन्त-सेवा के विविध रूप

कई भद्रिक व्यक्ति सन्तों के समीप पहुँचते हैं तो उनके चरण दबाने लगते हैं। तब सन्त उनको समझाते हैं कि यह हमें कल्पना नहीं है। हम गृहस्थ से पांव दबवाते नहीं हैं या कि उनके घर से भोजन मंगाकर उपयोग में भी लाते नहीं हैं क्योंकि गृहस्थ से कोई भी सेवा लेना हमारे योग्य नहीं है।

किन्तु उसी सेवा का रूप इस प्रकार समझाया जाता है कि आप गृहस्थ में रहने वाले अपने बुजुर्गों और माता-पिता के पांव दबा सकते हैं तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा कर सकते हैं। एक श्रावक अन्य श्रावक की शरीर सम्बन्धी सेवा

कर सकता है। स्वधर्मी बन्धुओं की भी इस प्रकार की सेवा की जा सकती है। स्वधर्मी बन्धुओं की सेवा का विशेष लाभ बताया गया है।

एक श्रावक और गृहस्थ सन्त लोगों की भी सेवा कर सकता है लेकिन शारीरिक दृष्टि से नहीं। वह उनके संयमी जीवन की आराधना में योग दे सकता है। सन्त का भी गृहस्थ जीवन से ही साधु जीवन में रूपान्तरण होता है। साधु जीवन की वेश-भूषा का परिवर्तन आता है तो अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत पालन की दृष्टि से भी परिवर्तन आता है। पोशाक तो वस्त्र रूप होती है जो निर्जीव स्वरूप है। वस्त्र एक दिन फट जाता है और उसके स्थान पर दूसरा वस्त्र ले लिया जाता है। इसलिये यदि सन्त जीवन की परख सिर्फ उसकी पोशाक से की जाती है तो वह उचित नहीं है। जो सन्त भी अपनी पोशाक को ही अधिक महत्त्व देता हो तो वह सच्चा सन्त जीवन नहीं जीता है। सन्त का जीवन तो वास्तव में संयमी, सत्यनिष्ठ और शुभ चेतना स्वरूप होता है। उसकी आन्तरिकता के अन्दर त्याग का संचार होता है। सच्चा सन्त जीवन वही है जिस जीवन में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों का मर्यादा के साथ पालन किया जाता हो। यदि ऐसी ही मर्यादाएँ कोई गृहस्थ व्यक्ति ग्रहण कर ले तो वह भी सन्त जीवन के रहस्य का अनुभव ले सकता है।

सन्त सेवा की भावना रखने वाले श्रावकों व भक्तों को भली-भांति समझ लेना चाहिये कि सन्त लोगों की पहचान केवल उनके वस्त्रों से ही नहीं, बल्कि उनके मर्यादापूर्ण संयमी जीवन से की जानी चाहिये। वस्त्र तो सिर्फ मर्यादा का बाह्य रूप होता है। यों सन्त जीवन गृहस्थ जीवन से सर्वथा भिन्न होता है। यद्यपि शारीरिक दृष्टि से शरीर निर्वाह के लिये जो भी क्रियाएँ होती हैं, वे लगभग समान होती हैं। गृहस्थ जिस हाथ से भोजन करता है, सन्त भी उसी हाथ से भोजन करते हैं और उससे सम्बन्धित शारीरिक क्रियाएँ भी समान होती हैं। गृहस्थ और सन्त का शारीरिक ढांचा आदि समान होता है किन्तु सन्त पंच महाव्रतों के निष्ठापूर्वक धारण करने तथा उनका सम्यक् रूप से पालन करने के कारण वन्दनीय और पूजनीय होते हैं। अतः संयमी जीवन के आन्तरिक महत्त्व को समझ कर यदि श्रावक आदि सन्तों की सेवा में पहुँचते हैं तो उस सेवा के फलस्वरूप उनको आत्म सन्तुष्टि एवं आत्म शान्ति की अनुभूति होनी चाहिये। यह अनुभूति दोनों प्रकार से हो सकती है कि श्रावक सन्त जीवन के आदर्शों और उनकी मर्यादाओं को ग्रहण करने की चेष्टा भी रखे तो सन्तों के संयमी जीवन की मर्यादाओं की सुरक्षा का स्वयं भी ध्यान रखे। सन्तों की सेवा का

ऐसा रूप भी रहे कि श्रावक की जागरूकता से सन्तों का संयमी जीवन सुरक्षित रह सके। यही सन्त के लिये श्रावक की सेवा हो सकती है।

आहार सेवा और चिकित्सा सेवा

सन्त की आहार सेवा निर्दोष रीति से कैसे की जा सकती है—यह भी श्रावकों के लिये गहराई से समझ लेने की बात होती है। सन्त के लिये भोजन की आवश्यकता हो तो उनके लिये ही खास तौर से भोजन बनाकर नहीं देना चाहिये, किन्तु गृहस्थ के घर में परिवार के सदस्यों के उपयोग के लिये स्वाभाविक रूप से जो भोजन बनता है, उसी में से गोचरी रूप बत्तीस दोषों को टालकर सन्त को अपना आहार लेने की मर्यादा है। अतः सन्त को उनके साधु जीवन की मर्यादाओं के अनुरूप ही निर्दोष आहार श्रावक वर्ग को देना चाहिये। मर्यादापूर्वक आहार बहराने की विधि अन्यायों को समझाई जाय। इसे शुभ दलाली का काम माना गया है। ये दोनों कार्य सन्तों की सेवा के रूप में गिने जा सकते हैं।

इसके विपरीत यदि कोई श्रावक सन्तों के लिये भोजन बनाकर देवे, पूछने पर झूठ बोले और आहार के दोषों को छिपावे तो यह ठीक नहीं है। सन्त लोग अपनी विधि से भी खोज करके ही आहार ग्रहण करते हैं, फिर भी सन्तों को निर्दोष तथा शुद्ध आहार प्राप्त हो, इसका प्रयास श्रावकों को रखना चाहिये। श्रावक ने यदि झूठ बोलकर या कपट पूर्वक दोषपूर्ण आहार सन्तों को दे दिया तो इस विषय में वीतराग देव का वचन है कि वह दोष उस श्रावक को लगता है, सन्त को नहीं। सन्त लोगों को निर्दोष आहार देना और निर्दोष आहार दिलाने की दलाली करना सन्तों की सेवा का सही अर्थ है।

श्रावकों को यथासाध्य एवं यथायोग्य रीति से ऐसा सहयोग देना चाहिये कि सन्तजन अपने साधु जीवन की मर्यादाओं का विशुद्ध रीति से पालन कर सकें। कदाचित्त ऐसे निर्दोष आहार का प्रसंग नहीं बना और गृहस्थ को कुछ खरीदना पड़ा तो उसे सन्तों को स्पष्ट रूप से वह स्थिति बता देनी चाहिये कि अनिवार्य हो जाने के कारण वैसा करना पड़ा है और आपको यह आहार लेना आवश्यक है अतः आप इसे ग्रहण की लीजिये। ऐसा आहार लेने के कारण जो प्रायश्चित्त बनता हो, उसे आप स्वीकार कर लें। ऐसा सत्य वचन कहने से भी सही मानिये कि सन्तों की कुछ सेवा हो सकती है। बाहर से आडम्बर और दंभ रखकर यदि श्रावक कुछ भी करता है तो वह सन्त-सेवा नहीं होती है। सन्तों की मर्यादाओं का हमेशा ध्यान रखना तथा उनकी शुद्ध रूप से पालना में योग देना ही सन्तों की सार्थक सेवा होती है। सन्तों की साधु जीवन की मर्यादाएँ

सर्वोच्च रहें, इसी को केन्द्र में रखकर किसी भी श्रावक को अपनी सन्त-सेवा की समीक्षा करनी चाहिये।

डॉक्टर भी बिना फीस लिये जनता को देखता है और फिर निदान करता है तथा उसके अनुसार औषधि भी देता है। इस प्रकार डॉक्टर जब यह कहता है कि मैं जनता की सेवा करता हूँ तब क्या वह मरीजों के हाथ-पांव दबाता है? नहीं, वह उसके अनुरूप सेवा करता है। जो डॉक्टर निस्स्वार्थ भाव से चिकित्सा-सेवा करता है वह उसकी सेवा ही कहलायेगी। सन्तों की चिकित्सा सेवा मन, वचन एवं काया के सहयोग से की जाती है।

भगवान् महावीर ने विनयपूर्वक की गई वैयावृत्य (सेवा-सुश्रूषा) को आभ्यन्तर तप की संज्ञा दी है। जिन तीर्थंकर देवों ने अपने केवलज्ञान के प्रकाश में वस्तु स्वरूप को जाना है, उन्हें किसी सेवा की आवश्यकता नहीं है। इस जीवन को जानने वाले ज्ञानी पुरुष भी इस वस्तु स्वरूप को सरलता से नहीं जान सकते हैं। जिस समय महावीर प्रभु अरिहंत होकर विराजमान थे, उस समय उनकी सेवा भी सन्त जन ही करते थे। उस समय अपने पूर्व जन्म के कर्मोदय से गोशालक द्वारा तेजोलेश्या छोड़ने के फलस्वरूप प्रभु महावीर को खून की दस्त लगी थी जिसके बारे में वे अपने ज्ञान में देख रहे थे और जान रहे थे कि यह कष्ट पूर्व जन्म के कर्मों के उदय के कारण है। यह भी वे जान रहे थे कि इस शरीर कष्ट का शमन किसी औषधि से ही हो सकता है। इस दृष्टि से यह उल्लेख आता है कि उन्होंने अपने शिष्य 'सिंह अणगार' को वह औषधि लाने को कहा और वह शिष्य औषधि लाया। यह भी तो एक शारीरिक सेवा ही थी किन्तु वह एक सन्त ने ही की थी।

सन्त सेवा : मर्यादाओं की सुरक्षा के साथ

सन्तों की सेवा उनके साधु जीवन की मर्यादाओं की सुरक्षा के साथ ही की जानी चाहिये। सन्तों का पंच महाव्रतों के पालन सम्बन्धी तथा संयम साधना सम्बन्धी स्वास्थ्य को सदा सुधड़ बनाये रखने में अपना योगदान देना चाहिये। साधु-साध्वियों को मर्यादाओं की सुरक्षा हेतु सदा सजग रहना चाहिये तथा श्रावक-श्राविकाओं को उन मर्यादाओं को समझकर उसकी सुरक्षा हेतु अपनी सेवा देनी चाहिये। इसके लिये तीर्थंकर देवों के उपदेशों, विद्वान् आचार्यों की टीकाओं तथा चारित्रशील सन्तों के प्रवचनों पर चिन्तन किया जाना चाहिये एवं संयम की शुद्धता के मूल्यांकन को सदा उच्च स्तर पर रखना चाहिये। इस रूप में सन्त सेवा से दोनों पक्ष लाभान्वित होते हैं।

चतुर्विध संघ की सेवा का भी अपना विशिष्ट महत्त्व होता है। आप जानते हैं कि चतुर्विध संघ के चार अंग होते हैं—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका। साधु-साध्वी अपने महाव्रतों की मर्यादाओं तथा संयम की विधि के साथ चलते हैं तो श्रावक-श्राविकाओं के अपने व्रत तथा संघ के प्रति कर्तव्य होते हैं जिनका हृदय से पालन किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से वीतराग भगवान् ने श्रावकों के लिये आठ प्रकार के आचार का निर्देश किया है, उन पर श्रद्धा रखते हुए दृढ़ भावना से श्रावक को यह सोचना चाहिये कि मैं इससे भी आगे चलकर समभाव से बारह व्रतों को स्वीकार करूँ और उसके बाद पंच महाव्रतों को अंगीकार करूँ। यह विचार करें कि मैं उस दिन धन्य हो जाऊँ जब मैं अपने अन्तिम समय में ममता भाव का त्याग करके अनासक्त बनकर अपनी आत्मा को वीतराग देवों की सेवा में समर्पित कर दूँ। वस्तुतः शत्रु और मित्र पर समभाव रखकर जो समता वृत्ति को सम्पूर्णतः ग्रहण कर लेता है, वही वीतराग देवों की सच्ची सेवा करता है।

सन्तों की सेवा के उच्च स्तर पर पहुँचकर ही वीतराग देवों की सेवा का स्तर आता है। यही सेवा की परम गहनता का रहस्य है।

सेवा का मूल भावना में

सेवा की परम गहनता का रहस्य भी भावना में मिलेगा तो सेवा की सार्थकता का दृश्य भी हृदय की भावना में ही प्रतिबिम्बित होगा, क्योंकि सेवा का मूल भावना में निहित होता है। हृदयस्थित भावना में सर्वतोमुखी परिष्कार होता है। उसमें आर्द्रता, मृदुता एवं नम्रता का समावेश होता है तभी सेवा वृत्ति की ओर झुकाव बनता है। सेवा के क्षेत्र में निरन्तर हृदय को संजोये रखने के लिये तो उस भावना में समता और समर्पण का समरस घुल जाना चाहिये जो स्थिर और स्थायी हो।

सेवा भावना की महत्ता का उल्लेख शास्त्रों में आया है कि जब भगवान् महावीर से यह प्रश्न किया गया कि वैयावृत्त्य या सेवा करने से किस फल की प्राप्ति होती है, तो उनका उत्तर था कि सेवा करने से तीर्थकर नाम गोत्र जैसी उत्तम प्रकृति तक का भी बंध हो सकता है। जहाँ भावनापूर्ण सेवा की स्थिति से तीर्थकर सरीखा सर्वोच्च पद मिल सकता है तो सेवा का अमित महत्त्व तथा आत्म कल्याणक लाभ स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

सेवा का जो साफ अर्थ है, वह अर्थ शब्द की दृष्टि से भी अभिव्यक्त होता है, लेकिन सामान्य जन उस अर्थ को नहीं समझ करके उससे भिन्न अर्थ

को समझ लेते हैं। जैसे कोई किसी वृद्ध या रुग्ण पुरुष की सेवा करता है तो वह यह समझ लेता है कि सेवा करके वह उस वृद्ध या रुग्ण पुरुष पर उपकार कर रहा है। वह यह भी चाहता है कि जिसकी सेवा वह कर रहा है, वह व्यक्ति उसकी सेवा का अहसान माने। यदि ऐसा नहीं होता है तो सेवा करने वाले की भावना समाप्त हो जाती है। किन्तु ऐसी वृत्ति सेवा भावना की दुर्बलता समझी जायेगी। कारण, वैसी सेवा भावना विशुद्ध न होकर अपने यश या सराहना की स्वार्थ लिप्सा से जुड़ी हुई होती है। इस रूप में सेवा का गलत अर्थ समझा जाता है। व्यक्ति जब यह सोचता है कि मैं जिसकी सेवा कर रहा हूँ, उस पर मैं उपकार कर रहा हूँ तो समझना चाहिये कि उसका सोचना सच्ची सेवा भावना के विपरीत है।

सत्यता तो यह होती है कि सच्ची भावना के साथ किसी की सेवा करने वाला व्यक्ति सबसे पहले और सबसे ऊपर अपना ही उपकार करता है। दूसरे का उपकार तो गौण होता है जिस पर भावना की दृष्टि से ध्यान ही नहीं जाना चाहिये। उसके मन में प्रमुख भावना यही रहनी चाहिये कि मैं दूसरे जरूरतमन्द की सेवा करके अपना ही लाभ अर्जित कर रहा हूँ। मैं सेव्य पुरुष की सर्वतोमुखी सेवा करके अपने अन्तर्हृदय में महान् सद्गुणों का ही संचय कर रहा हूँ। ऐसी भावना से जब सेवा का प्रसंग आता है तो वह अवश्य तप का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। यह अभ्यन्तर तप होता है तथा ऐसे तप की उच्चता निखरने पर कर्मों की भारी निर्जरा हो सकती है जिससे उत्कृष्ट आत्मशुद्धि की अवस्था भी उत्पन्न हो सकती है। सेवा भावना का आदर्श अनुपम होता है।

सेवा करने वाला सच्ची, मधुर एवं सदय भावना से जब सेवा करता है तो उसका उसे श्रेष्ठ फल भी मिलता है। उसका फल इस तथ्य पर निर्भर नहीं करता कि जिसकी सेवा की है उसे अपनी वेदना से शान्ति मिलती है या नहीं। सेवा करने वाले का फल तो उसकी अपनी भावना और पुरुषार्थ के अनुसार मिलता है।

सेवा योग साधना से भी श्रेष्ठतर

जो यह कहा गया है कि सेवा धर्म योगियों के लिये भी कठिन है, उसका सही तात्पर्य यही है कि जिस रूप में योग साधना को श्रेष्ठ मानते हैं उससे भी सेवा साधना श्रेष्ठतर होती है। सोचें कि एक योगी योग-साधना करता है। उसके लिये गुफा में जाकर ध्यान लगाता है अथवा प्राणायाम आदि विविध प्रकार की योग क्रियाएँ करता है। उन क्रियाओं की सफल साधना करके वह योगी कहलाता है। नीतिकारों का कथन है कि ऐसे योगी की योग साधना तो फिर भी सहज है

लेकिन मृदु एवं विनम्र भावना के साथ सेवा करना वस्तुतः अगम्य होता है और इसी कारण सेवा को योग से भी श्रेष्ठतर साधना कहते हैं।

सच पूछें तो सेवा धर्म योगियों के लिये भी परीक्षा का विषय होता है क्योंकि योग और सेवा की साधना में अन्तर है। योग साधना करने वाला यह समझता है कि मेरी कोई परीक्षा नहीं है और इसलिये उसका दूसरों के लिये कोई मापदंड भी नहीं है। लेकिन सेवा के साधक के लिये दूसरी ही स्थिति होती है। सेवा करने वाले के सामने पल-पल में परीक्षा के अवसर आते हैं। समझिये कि जिस बीमार की वह सेवा कर रहा है, वह उसके पास जाता है तो पहली परीक्षा वहीं हो जाती है कि वह समय से गया है या विलम्ब से, वह बीमार की यथोचित आवश्यकता की पूर्ति कर पाया है या नहीं अथवा उसकी सेवा से बीमार को सन्तोष हुआ है या नहीं। रोगी अपनी वेदना से बेचैन होता है तो डांट भी देता है या उग्र शब्द भी निकाल देता है जो सेवा करने वाले को सहज भाव से सहना होता है। ऐसे समय में सेवा करने वाले के समत्व भाव की भी कठिन परीक्षा होती है। रोगी द्वारा कहे गये कटु शब्दों को सुनकर भी वह उत्तेजित न हो तथा शान्त रहकर अपने व्यवहार की मधुरता को बनाये रखे। पग-पग पर और पल-पल में आने वाली ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता हुआ सेवा करने वाला व्यक्ति विनम्रता, सहनशीलता एवं सरलता की जब मूर्ति बन जाता है तब समझना चाहिये कि उसकी सेवा श्रेष्ठ भावना, स्वरूप तथा विधि की कसौटी पर खरी उतरी है।

सेवा की सफलता में सबसे बड़ी कठिनाई ही यह होती है कि सेवा करने वाला अपना कर्तव्य पूरी भावना एवं निष्ठा से निभाता है तब भी उसकी कुछ-न-कुछ आलोचना हो ही जाती है। उस झूठी या सच्ची आलोचना को भी सहन करते हुए वह जब विनम्रतापूर्वक सेवा कार्य में लगा रहता है तभी उसकी सेवा का यथार्थ स्वरूप निखरता है। सेवा भावना की उच्चता तथा सेवा कार्य की विनम्र क्षमता विरले व्यक्तियों में ही आती है। सेवा में समत्व भाव का सर्वोत्कृष्ट विकास दृष्टिगत होना चाहिये क्योंकि यह समत्व भाव ही सेवा को योग से ऊपर प्रतिष्ठित करता है।

सेवा निर्विकार एवं निःस्वार्थ भाव से करें

कई मत-मतान्तर अपनी पूजा प्रतिष्ठा के मोह को लेकर चल रहे हैं और उसमें समाज की कितनी शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है— यह देखने की बात है। श्रावकों की सम्पत्ति का अपव्यय करके व्यक्ति पूजा, यश-कीर्ति और प्रसिद्धि

के लिये कार्य किये जाते हैं जिन्हें सेवा का नाम दिया जाता है, किन्तु ऐसी वृत्ति सच्ची सेवा से कोसों दूर ही मानी जानी चाहिये। सेवा करने वाले के हृदय में यह एकदम स्पष्ट होना चाहिये कि उसकी सेवा पूर्णतः निर्विकार एवं निःस्वार्थ भाव से हो किन्तु साथ ही उसमें यह सतर्कता भी होनी चाहिये कि कोई उसकी सेवा का यश लाभ आदि गलत उद्देश्यों के लिये दुरुपयोग और शोषण तो नहीं कर रहा है। सेवा का लाभ आवश्यकता वाले सेव्य को मिले तथा सेवा का प्रभाव भी शुभ भावना के प्रसार रूप में दिखाई दे—उसे देखने का काम भी सेवा करने वाले का होना चाहिये।

भगवान् की सेवा सर्वोच्च सेवा होती है जिसमें किसी भी प्रकार से अपनी अहं वृत्ति अथवा स्व प्रतिष्ठा का मोह नहीं होना चाहिये। ऐसा मोह छोड़ने पर ही निर्लिप्त, निर्विकार एवं निःस्वार्थ भाव का उदय होता है। सन्तों की सेवा में भी ऐसे ही भावों का संचार होना चाहिये किन्तु यह परीक्षा आवश्यक है कि सन्त अपने साधु जीवन की मर्यादाओं के पालन में सच्चा और खरा हो, वरना सेवा का परिणाम दूसरों को प्रोत्साहन देने वाला नहीं होगा।

ध्यान में रखें कि सेवा अपने आप के आत्म स्वरूप को पवित्र बनाने का माध्यम है। अतः सेवा करने वाले को सदा अपनी भावना का अंकन करते रहना चाहिये। सेव्य की दृष्टि से उसमें भेद नहीं आना चाहिये। सेव्य के भाव सेव्य जाने लेकिन सेवा करने वाले साधक को तो अपनी भावना सदा उत्कृष्ट ही रखनी चाहिये क्योंकि सेवा की श्रेष्ठता उसी में निहित होती है।

19

मन की एकाग्रता

धार तलवार नी, सोहिली, दोहिली,
 चउदमां जिनतणी चरणसेवा
 धार पर नाचता देव बाजीगरा,
 सेवना धार पर रहे न देवा॥

वीतराग देव की पवित्र वाणी को श्रवण करने के पश्चात् जीवन में उस पर आचरण हो, इस हेतु उस वाणी का अर्थ विन्यास एवं विश्लेषण करने का प्रसंग उपस्थित किया जाता है। वीतराग देव की सच्ची उपासना उनके सिद्धान्तों को अपने आचार-विचार में उतारने से ही सफल मानी जा सकती है। वीतराग वाणी का यथार्थ अर्थ समझकर ही उस पर आचरण का चरण आगे बढ़ाना चाहिये। यही वीतराग प्रभु की सेवा होती है।

यह सेवा तलवार की धार पर चलने जैसी कठिन बताई गई है। जानते हैं आप कि तलवार की धार पर चलना कठिन क्यों माना जाता है? तलवार की धार पर चलना क्या मात्र शारीरिक क्रिया है? शरीर का अंग पांव तो उस पर चलता है, लेकिन क्या यह अकेले पांव का ही करतब हो सकता है? पांव क्या शरीर का कोई भी अंग भीतर के आदेश-निर्देश के बिना सफलतापूर्वक कोई भी कार्य पूरा नहीं कर सकता है। कौन बैठा है भीतर ऐसे आदेश निर्देश देने वाला?

मन का होता है ऐसा आधिपत्य

शरीर के भीतर बैठा हुआ है ऐसे आधिपत्य का धनी मन, जो आत्मा और शरीर के बीच एक कड़ी का काम करता है। शरीर और उसकी इन्द्रियाँ तथा उसके अंग-उपांग कोई भी कार्य इसी मन के आदेश-निर्देश पर करते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि शरीर की किसी भी प्रवृत्ति के साथ जिस

रूप में तथा जितने अंशों में यह मन जुड़ा रहता है, उस प्रवृत्ति का परिणाम उसी रूप में अथवा उतने अंशों में सफल अथवा विफल दिखाई देता है।

इस मन के जुड़ने को, मन की उस प्रवृत्ति में एकाग्रता का नाम दे सकते हैं। एक की तरफ अग्रगामी होना एकाग्रता कहलाती है। यों मन की चंचलता ऐसी होती है कि वह एक साथ कई दिशाओं में भागता, लौटता और दौड़ता रहता है। एक की तरफ ही वह बढ़े—ऐसी उसकी वृत्ति बहुत कठिनाई से ही होती है।

जो काम जितनी अधिक जिम्मेदारी या जोखिम का हो, उसमें मन की गति भी उतनी सधी हुई और एक लक्ष्य की तरफ ही ध्यान केन्द्रित हुआ तो वह शरीर की वैसी प्रवृत्ति पर पूरा नियंत्रण रख सकेगा और उस प्रवृत्ति को सफलता की ओर आगे बढ़ा सकेगा। इस दशा के संदर्भ में तलवार की धार पर चलने की बात पर विचार करते हैं। मान लीजिये कि पांव उस धार पर चलने का सामर्थ्य रखते हैं और चल भी पड़े हैं किन्तु उनका अधिपति मन अगर पांवों के साथ ध्यान केन्द्रित नहीं है तो पांवों का यह सामर्थ्य नहीं है कि वे मन की उपेक्षा करके स्वयं चल निकलें। विचार या संकल्प की शक्ति उनको प्राप्त नहीं है। समझें कि मन पांवों के साथ है परन्तु वह एकाग्र नहीं है तो वह इस बात की पक्की निगरानी नहीं कर सकेगा कि पांव सफलतापूर्वक अपनी अभ्यासजन्य कला का प्रदर्शन कर सके। पांव कहीं भी पड़ सकता है, कट सकता है पर उस धार पर कामयाबी से चलना उनके लिये अशक्य हो जायेगा। तलवार की धार पर चलने के अति कठिन काम में मन की एकाग्रता आवश्यक होती है। प्रतिपल सावधान मन जब उन पांवों के साथ जुड़ता है और यह संकल्प लेता है कि उसे पांवों की अभ्यासजन्य कला को सफलता दिलानी ही है, तब जाकर पांव अपना कामयाब करतब दिखा सकते हैं। अधिपति का संरक्षण पूर्णतः न हो तो अनुचर का मस्तिष्क नहीं होता कि वह समस्या का सफल समाधान निकाल लें।

इसी प्रकार अपने शरीर के अधिपति और आत्म सेवी मन को जब तक वांछित दिशा में गतिशील नहीं बना सकें तब तक किसी भी कार्य की सफलता की गारंटी नहीं हो सकती है।

मन गतिशील हो एकाग्रता से

इस कारण किसी भी कार्यशील प्रवृत्ति की दिशा में मन गतिशील हो और वह भी एकाग्रता से, तभी अर्जुन का निशाना एकदम सही लग सकता है। लक्ष्य

के प्रति ध्यान का एकनिष्ठ रूप से केन्द्रित हो जाना ही मन की एकाग्रता की भूमिका होती है। एक की ओर अग्र वही एकाग्र। इस प्रकार के एकाग्र मन के साथ जब आप वीतराग देव की सेवा करें तो वह तलवार की धार पर चलने के समान पहले कठिन जरूर प्रतीत होगा किन्तु मन की एकाग्रता के सघन बनने के साथ-साथ वह सरल भी होता जायेगा।

जब तक मनुष्य के मन में अनेकानेक बातें उठती रहती हैं, विविध विचारों का प्रवाह बहता रहता है तब तक परमात्मा का निष्ठापूर्वक चिन्तन संभव नहीं होता है। कोशिश भी की जाती है तो वह कामयाब नहीं होती है। चंचल मन की अवस्था में यदि परमात्मा का चिन्तन करने बैठ भी गये तो समझिये कि परमात्म-स्वरूप की एक लहर उठी या नहीं उठी—वह मन घर की, सम्पत्ति की, व्यापार व व्यवसाय की या कि निरर्थक प्रपंचों की बातों में दौड़ जायेगा और बेलगाम घोड़े की तरह कभी कहीं और कभी कहीं मुँह मारने लगेगा। उस मस्तिष्क में भांति-भांति के विचारों की मिलावट हो जाने से वह वीतराग वाणी के प्रति ध्यान को केन्द्रित करना तो दूर ध्यान को ले जा तक नहीं पाता है। वीतराग देव की उपासना अथवा परमात्मा की सेवा तो बहुत दूर की बात होती है।

कई लोग हैरान होकर प्रश्न करते हैं कि हम जब भी धार्मिक क्रिया की आराधना में प्रवृत्त होते हैं और परमात्म स्वरूप पर चिन्तन करने बैठते हैं तो हमारा मन उसमें लगता नहीं है। हम चाहते हैं कि वह उस धार्मिक क्रिया में लगे लेकिन वह कई प्रकार की सांसारिक बातों में उलझ जाता है। ऐसा क्यों होता है? एक दृष्टि से देखा जाय तो सभी प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ आत्म-शुद्धि के प्रयोजन से की जाती हैं, ताकि वीतराग देव की सच्ची उपासना की जा सके। जो यह कहा जाता है कि चाहने पर भी धार्मिक क्रियाओं में मन नहीं लगता है और वहां से वह उचटकर सांसारिक बातों में उलझ जाता है तो इसमें चाह का ही दोष होता है। यदि चाह और इच्छा बलवती हो और संकल्पपूर्वक मन पर कठोर नियंत्रण साधा जाय तो मन की क्या मजाल कि वह काबू में न आवे और आपके हुकूम को न माने। यह आत्मा की कमजोरी होती है कि वह अपने घोड़े की लगाम कसकर नहीं रखती है। घोड़े के लगाम लगाओ और कसो नहीं, तब भी घोड़े पर हर वक्त काबू नहीं रखा जा सकता है लेकिन घोड़े पर लगाम ही नहीं लगी हुई हो तो उस घोड़े के बिगड़ैल बनने में भला क्या रोक हो सकती है?

अतः पहले अपने मन की अवस्था की ही जांच करें कि क्या उस पर आपकी आत्मा का किसी प्रकार का नियंत्रण भी है अथवा वह मन बिगड़ैल

घोड़े की तरह बेलगाम है? और ऊपर से आप की आत्मा को भी वह चक्कर तो नहीं दे रहा है? इसलिये अपने मन का अवलोकन करें और जरूरी हो तो बलात् भी नियंत्रण कायम करें। इसका संकल्प पूर्वक अभ्यास करते रहें और निश्चय कर लें तो मन पर नियंत्रण कर लेना कोई असाध्य कार्य नहीं होता है। हाँ, यह कार्य दुस्साध्य अवश्य है और दुस्साध्य कार्य को सफल बनाने के लिये पूरा संकल्प चाहिये तो पूरा पुरुषार्थ भी। मन पर एक बार नियंत्रण कर लेंगे और लगाम डाल देंगे तो समझिये कि उसकी चंचलता काबू में हो जायेगी। फिर कभी इधर-उधर मुंह किया नहीं कि आप लगाम कस देंगे और उसकी दिशा तुरन्त सही हो जायेगी। इस तरह मन का साधना एक अभ्यास है। इस अभ्यास में यदि आप दत्त-चित्त होकर लग जाते हैं तो मन की एकाग्रता आपको प्राप्त हो जायेगी। तब मन गतिशील तो रहेगा किन्तु एकाग्र रहेगा और एकाग्र रहने का सुपरिणाम यह होगा कि मन की गति एक दिशा की ओर ही केन्द्रित रहेगी जिससे वह गति प्रगति के रूप में ढलती हुई चली जायेगी।

मन को बाहर से भीतर ले जावें

मन गतिशील होता है तथा सदा गतिशील रहता है। उसकी गति कभी ठहरती नहीं है। जो मन का निरोध करने की बात कहते हैं, वह सही नहीं है। मन की गति को रोकने का प्रश्न नहीं है। गति ही के लिये तो मन है और गति ही से जीवन की प्रगति होगी, फिर गति को रोक देने का तो कोई अर्थ ही नहीं है।

मुख्य समस्या है गति को शुभ मोड़ देने की और ऐसा नियंत्रण साध लेने की कि वह गति फिर कभी अशुभ मोड़ न ले तथा निरन्तर शुभ दिशा में ही अग्रगामी बनी रहे। यही समस्या मन को साधने की है, मन की गति को एकाग्र बनाने की है। मन दौड़े अवश्य लेकिन काम, क्रोध के विकारों की जिस दिशा में दौड़कर वह पतन के गड्ढे में आत्मा को गिराता और लहलुहान बनाता रहता है, उसकी उस दिशा की दौड़ को रोकना है तथा उसका मुंह आत्मोन्नति की राह की तरफ मोड़ देना है। बाकी उसकी गति, उसकी दौड़ वैसी ही बनी रहे या कि और तेज हो जाय तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है।

इस चंचल मन के मुंह को आत्मविकास की दिशा में कैसे मोड़ें और कैसे उस दिशा में इसकी गति को स्थिर बनावें? इसके लिये समझ लीजिये कि वे दो दिशाएँ हैं—एक बाहर की और दूसरी भीतर की। बाहर सारा संसार है और सांसारिक विषय भोगों का जाल बिछा हुआ है जबकि भीतर की दिशा आत्मस्वरूप तक पहुँचती है और आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग दिखाती

है। इसलिये मन को काबू में करके उसको आदेश दीजिये कि वह इन्द्रियों की गति पर काबू करे और फिर आत्मा की सेवा में पहुँचकर उसके आदेश-निर्देश पर चले। यही विधि है कि मन को बाहर से भीतर में ले जावें। यह मन जितना अधिक आत्म रमण का अभ्यस्त हो जायेगा, उतना ही वह आत्म विकास की ओर प्रगतिशील बन जायेगा।

अन्तरात्मा की गहराइयों में मन को प्रविष्ट कराने के बाद ही वीतराग देव की सार्थक उपासना की जा सकेगी। आप जब विचार करते हैं कि मैं कोई धार्मिक क्रिया करूँ तो शायद यह विचार भी उठ जाता होगा कि मुझे इस धार्मिक क्रिया का फल मिलना चाहिये और फल की भी ऐसी कामना होती है कि मेरी धर्म भावना का चारों ओर बखान किया जाये। लोग गुणगान करें, चारों ओर यश फैलावें। अर्थात् कार्य का समारंभ न हो उससे पहले फल की कामना उमड़-घुमड़ जाती है। धार्मिक क्रिया आप कौन से भावों के साथ कर रहे हैं—उसकी तरफ शायद ध्यान नहीं जाता किन्तु अपनी यश-कीर्ति की लालसा पहले ही पसर कर चारों ओर फैल जाती है फिर बताइये कि धार्मिक क्रिया का जो मुख्य अनुष्ठान है उसमें आपका मन लगे तो कैसे लगे? कारण, वह मन तो आत्मा को यश की लोरियाँ गाकर और कीर्ति की थपकियाँ देकर पहले ही सुला देता है। मन को आप अन्तरात्मा तक पहुँचाते ही कहां हैं? वह तो आपके काबू से पहले ही छिटक जाता है और आप पर उलटा जादू चला देता है, तब परमात्मा के चिन्तन में आपका मन स्थिर बने तो कैसे बने?

मन का प्रवाह भीतर की ओर मुड़ता ही नहीं है और वह फिर बाहर की दौड़ में पड़ जाता है। इस कारण धार्मिक क्रिया का अनुष्ठान करने से पहले मन की गति-स्थिति को अच्छी तरह परख लें और उसे योगपूर्वक अन्तरात्मा के भीतर ले जाने की चेष्टा जारी रखें। यदि ऐसी चेष्टा निरन्तर जारी रहती है तो आन्तरिक पृष्ठभूमि ऐसी बन जायेगी कि ज्ञान, ध्यान, त्याग, तपस्या, मनन-चिन्तन आदि कोई भी धार्मिक क्रिया हो, मन उसमें अभिरुचि पूर्वक सक्रिय बन जायेगा। बाहर से मन को बार-बार भीतर धकेलते रहें ताकि भीतर की भावना में जब वह रंग जायेगा तो गतिशील एकाग्रता के साथ वह उच्चतम लक्ष्य तक पहुँचने में भी कोई हिचक नहीं दिखायेगा। आप मन को बाहर से भीतर ले जाने का अभ्यास अवश्य आरंभ कर दें।

मन को प्रमाद से मुक्त बनावें

जो भी धार्मिक क्रिया आप करना आरंभ करें, उसके साथ यह विवेक भी

रखें कि सबके पीछे काल की स्थिति जुड़ी हुई है। समयानुसार यदि कोई साधना प्रतिफलित नहीं होती है तो आगे उसकी सफलता के लिये फिर समय मिले या नहीं मिले—कौन जाने? कब मृत्यु आकर इस जीवन का द्वार खटखटा दे और यह आत्मा फिर चतुर्गति संसार के परिभ्रमण चक्र में घूमने लगे? इस कारण धार्मिक क्रिया की आराधना के साथ ही मन की तत्परता जागृत हो जानी चाहिये।

एक रात कुछ साथियों ने समुद्र की यात्रा कर समुद्र के विविध दृश्यों को देखने का निश्चय किया। वे एक नौका में बैठकर समुद्र की सैर करने निकले। रात्रि का प्रसंग था, नौका चलती रही और वे सब आपस में बातचीत करते रहे। धीरे-धीरे रात्रि का समय व्यतीत हो गया और वे सोचने लगे कि हमने रात में काफी दूरी पार कर ली। सूर्योदय के पूर्व ज्यों-ज्यों प्रकाश फैलने लगा, उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि पूरी रात प्रयास करने के बाद भी उनकी नौका वहीं पर है, जहां से वह रात्रि के आरंभ में चली थी। देखा तो नौका जिस लंगर से बंधी थी, वह लंगर तक नहीं खोला गया था। उन्हें याद आने लगा कि वे समुद्र के दृश्य देखने की कल्पना में इतने खो गये और बातचीत में मशगूल हो गये कि नौका को लंगर से खोलने तक की याद नहीं आई। बस, कोरी पतवार चलाते रहे और समझते रहे कि उनकी नौका समुद्र में दूरी पार करती हुई आगे-से-आगे बढ़ती जा रही है। यह सब क्या है? मन की तत्परता का अभाव था यानी कि मन में प्रमाद छाया हुआ था।

जब तक मन पर प्रमाद छाया हुआ रहता है, धार्मिक क्रियाओं की आराधना की लगन गहरी नहीं बनती है, बल्कि आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया ही सक्रिय नहीं होती है। अतः मन की अप्रमत्त दशा आत्म विकास के लिये परम आवश्यक है। इस संसार को एक समुद्र की उपमा दी गई है तथा यह मानव जीवन उसे पार करके मुक्ति के द्वार तक पहुँचाने वाली एक नौका के समान है। इस नौका पर निरन्तर काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर आदि मगरमच्छ आक्रमण करते रहते हैं। सबसे ऊपर तो अपना मन लंगर बनकर उसे मझधार में बांधे रखता है। इस नौका को जब तक लंगर से नहीं खोलोगे तब तक कितनी ही पतवारें चला लो, नौका वहीं की वहीं रहेगी। इस कारण मन के लंगर को खोलकर मन को नौका चलाने की मजबूत पतवार में बदल लो। फिर दान, शील, तप, त्याग, भावना आदि सद्गुणों के नौका पर पाल बांध दो। जब मन के प्रमाद को नष्ट कर दिया जायेगा तो यह शरीर और पांचों इन्द्रियाँ भी नौका की सजग प्रहरियाँ बन जायेंगी और मगरमच्छों को इतनी दूर भगा देंगी

कि वे नौका को छू भी न सकें। फिर उस नौका की यात्रा में कौन बाधा डाल सकता है और कौन-सी बाधा तत्पर मन को हताश बना सकती है? अप्रमत्त मन उस नौका को दूसरे किनारे पर पहुँचा कर ही मानेगा। प्रमाद नहीं तो उत्साह की कहां कमी है? उत्साह और साहस भरपूर तो गंतव्य तक पहुँचने के पहले विश्राम किसे चाहिये? अतः मन को प्रमाद से मुक्त करें।

ध्यान रखिये, मन की अप्रमत्तता और तत्परता जीवन के उच्चतम विकास के लिये एक वरदान रूप होती है।

क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं

भगवान् महावीर का वचन है कि समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। इससे प्रमाद त्याग की सीमा समझी जा सकती है। इस समय अपने दिन-रात के चौबीस घंटों में से कितना समय आप प्रमाद में व्यतीत करते हैं? क्या आप में से कोई सही-सही बता सकता है? आप यह भी जानते हैं या नहीं कि कौन-कौन से काम-जिन्हें आप कार्य करना मानते हैं-सब प्रमाद की परिभाषा में ही आते हैं। ये संसार के सारे कार्य प्रमाद रूप ही होते हैं। प्रमाद अर्थात् आलस्य और सांसारिक इच्छा पूर्ति के सारे काम आलस्य के ही दूसरे रूप हैं।

एक प्रमादी पुरुष के मन में विचार उठते रहते हैं कि यह परिवार मेरा है, यह धन मेरा है, यह ऐश्वर्य मेरा है सो ऐसा क्या कुछ मैं करता रहूँ ताकि ये सब मेरे बने रहें और इन सबसे मेरी रक्षा होती रहे। प्रमादी पुरुष कभी भी अपनी जीवन रक्षा में समर्थ नहीं बनता है। उसकी जीवन नौका लंगर डाले वहीं की वहीं खड़ी रहती है, भले वह विभिन्न सांसारिक कार्यों को करता हुआ यह समझता रहे कि पतवार चलाते रहने से उसकी नौका बराबर चल रही है। उसके द्वारा प्रमाद का त्याग तब कहलायेगा जब वह विवेकपूर्वक मन के लंगर को छोड़कर संसार-समुद्र में अपनी नौका को गतिशील बनावे। ऐसा वह धर्माराधन के माध्यम से ही कर सकता है। धर्माराधन में जितनी निष्ठा से मन को लगाया जाता है, वही सच्चा प्रमाद-त्याग होता है। अब आप बतावें कि आपने कितना प्रमाद त्याग किया है? सोचिये कि चौबीस घंटों में कितना समय धर्माराधन में लगाते हैं? और धर्माराधन में लगाकर भी कितने समय तक मन की तत्परता को बनाये रख सकते हैं? फिर लगाइये अपने प्रमाद का हिसाब!

समय, काल खंड की सबसे छोटी इकाई होती है। यों समझिये कि समय एक पल से भी बहुत छोटा होता है। आप तो अपने आपको भगवान् महावीर

के अनुयायी मानते हैं न? उनका उपदेश तो यह है कि समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो अर्थात् दिन-रात अप्रमत्त अवस्था को बनाये रखो। अब आप ही अनुमान लगाइये कि आप अपने प्रभु का आदेश कितने अंशों में मान रहे हैं? इससे आपको यदि पश्चात्ताप उपजे तो अवश्य अप्रमत्त अवस्था को पाने के लिये सजग प्रयत्न प्रारंभ कर दीजिये।

जब मन का प्रमाद नहीं रहेगा तो धार्मिक क्रियाओं की वास्तविकता भी प्रकट हो जायेगी। आत्म शुद्धि का अनुपम वातावरण भी बनेगा तो परमात्मा की सेवा भी सफलीभूत होगी। वह अप्रमत्त अवस्था, निर्लिप्त अवस्था होगी जिसमें अपने आत्म स्वरूप की पक्की पहचान हो जायेगी और उसके उच्चतम विकास का संकल्प सुदृढ़ बन जायेगा।

आत्म विकास की साधना में मन रम जाये

यह मन सब ओर से संकुचित बनकर एकाग्रता और अप्रमत्तता के साथ यदि आत्म-विकास की दिशा में दौड़ लगाना शुरू कर दे यानी कि मन आत्म विकास की साधना में एकनिष्ठा से रम जाये तो फिर लक्ष्य तक पहुँचना कठिन नहीं रहता है। आत्म विकास के मार्ग पर तो फिर गति ही मुख्य बन जाती है। आत्म विश्वास और आत्म बल इस रूप में सशक्त हो जाते हैं कि फिर फल की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है क्योंकि जब आपका मन आश्वस्त हो जाये कि आप को मुम्बई जाना है और आप पूरी गति से मुम्बई की सड़क पर ही चल रहे हैं तो मुम्बई पहुँचने में किसी तरह की शंका शेष नहीं रह जाती है। वैसी अवस्था में आपका अपनी गति की तरफ ही ध्यान केन्द्रित हो जाता है।

गीता में कहा गया है कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन' अर्थात् कर्म करते रहो, फल की कामना मत रखो। इसका आशय यही है कि मन आत्म विकास की साधना में केन्द्रस्थ होकर इस कदर रम जाये कि उसको अपनी गति के सिवाय और कोई ध्यान रहे ही नहीं।

एक व्यक्ति को एक चिन्तामणि रत्न प्राप्त हो गया। वह उसका मूल्य नहीं जानता था। वह उस रत्न को बेचने के लिये एक जौहरी की दुकान पर पहुँचा और कहने लगा—मैं कई दिनों से भूखा हूँ। मुझे इस रत्न के मूल्य में एक समय का भोजन करा दीजिये। जौहरी उस रत्न का मूल्य जानता था। उसने कहा कि इस रत्न का इतना मूल्य मैं तुम्हें दे सकता हूँ जिससे तुम्हें जीवन भर दोनों समय का भोजन सुलभ हो सके। उस रत्न का मूल्य तो खैर उससे भी कई गुना

अधिक था। किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि जिस रत्न के मूल्य का ज्ञान न हो तो उसे कौड़ी के मोल भी बेचा जा सकता है।

यही स्थिति आज के मनुष्य की अपने ही जीवन के साथ में है। यह मनुष्य तन और जीवन कितना अमूल्य और दुर्लभ है—यह पूछने पर सभी सहमत हो जायेंगे कि हमारे शास्त्रों में यही बात कही गई है लेकिन आप अपने यथार्थ विचार व्यवहार में इस बुद्धि का कितना सदुपयोग करते हैं? क्या आप भी ऐसे चिन्तामणि रत्न को एक समय के भोजन के लिये बेच देने की नादानी तो नहीं कर रहे हैं? अरे बन्धुओ! संसार के सुख-साधनों की प्राप्ति हेतु आपने अपने जीवन का जो समस्त पुरुषार्थ लगा रखा है, वह क्या ऐसी ही नादानी तो नहीं है? इस पर गहरे उतरकर विचार कीजिये।

आत्म विकास का सही मार्ग आपको उसके बाद ही दिखाई देगा और उसके बाद ही आपको अपने मन को साध लेने की जागृति भी पैदा होगी। मन को साधेंगे तभी उसे एकाग्र और अप्रमत्त बना सकेंगे और फिर उसकी ही एकनिष्ठ एवं केन्द्रित गति के बल पर आत्म विकास के सर्वोच्च लक्ष्य तक पहुँचने का उपक्रम कर सकेंगे। इस हेतु मन को आत्मरामी बना लीजिये।

मन को साधिये साधना से

‘एके साधे सब सधे, सब साधे, सब जाय।’ और एक जिसको साध लेना है, वह होता है अपना मन। एक मन को साध लिया तो आप निश्चित हो सकते हैं कि आपने अपनी आत्मा के सर्वतोमुखी विकास को साध लिया है और इस मन को साधना होता है आध्यात्मिक साधना के प्रयोग से। मन सधेगा जब उसे आप बाहर से समेट कर भीतर पहुँचा देंगे और उसे वहाँ पूरी तरह से क्रियाशील बना देंगे।

इस साधना का शुभारंभ सामायिक से करना चाहिये ताकि मन की एकाग्रता भी सधे तो उसके समत्व योग की परिपक्वता भी बढ़े। सामायिक की निरन्तर साधना से मन का शुभ निर्माण होता जायेगा, तब अन्य धार्मिक क्रियाओं में एकात्मता सुदृढ़ बनती जायेगी। इसके साथ ही पूर्वार्जित कर्मों के बंधन भी कटते जायेंगे तथा आत्म-शुद्धि का विस्तार होता जायेगा।

सूर्योदय होने पर यदि पश्चिम की तरफ मुंह करके खड़े हो जायेंगे तो अपने शरीर की परछाई लम्बी नजर आयेगी। उस परछाई को पकड़ने के लिये आप कितनी ही दौड़ लगावें तो क्या वह पकड़ में आ सकेगी? ये सांसारिक भोग लालसाएँ ऐसी परछाई के समान होती हैं, जो दिखाई तो लम्बे-चौड़े रूप में देती

हैं पर पकड़ने जाओ तो हाथ में कुछ नहीं आता है। और भौतिक पदार्थ एक बार मिल भी गये तो उनकी स्थिति स्थायी नहीं रहती है। इस कारण भौतिक पदार्थों के पीछे भागना परछाई के पीछे दौड़ने जैसा ही है। ऐसे ही शाश्वत विचारों से मन को साधना चाहिये। उन्नत विचार और धार्मिक क्रियाओं का आराधन अवश्य मन को साधने का कार्य करते हैं तथा उसकी गति को आत्मोन्मुखी बनाते हैं।

स्वस्थ मन, आत्म स्वरूप में संशोधन, इन्द्रिय निग्रह तथा आन्तरिक शुद्धि में प्रगति—ये सब उपलब्धियाँ मिलकर मनुष्य जीवन को इस योग्य बना सकती हैं कि वह वीतराग देव की सच्ची उपासना तथा परमात्म-स्वरूप की आत्मिक साधना सफलतापूर्वक कर सके। फिर मन-मस्तिष्क की परिष्कृति तथा आत्म चिन्तन की गूढ़ता ज्ञान, दर्शन, चारित्र के क्षेत्र में नई सम्प्राप्तियाँ कराती रहेगी।

दिनांक 31.08.1986

(जलगांव)

